विविधा

भाग 1

कक्षा 11 (आधार पाठ्यक्रम) की हिंदी की पूरक पाठ्यपुस्तक

संपादक

सत्येंद्र वर्मा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण ISBN 81-7450-081-2

सितम्बर 2002

भाद्रपद 1924

PD 200T DRH

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैम्पस	108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे	नवजीवन ट्रस्ट भवन	सी.डब्लू.सी. कैम्पस
श्री अरविंद मार्ग	हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज	डाकघर नवजीवन	32, बी.टी. रोड सुखचर
नई दिल्ली-110 016	**बैंगलूर 560 085**	**अहमदाबाद 380 014**	**24 परगना 743 179**

प्रकाशन सहयोग

संपादन : दयाराम हरितश

उत्पादन : प्रमोद रावत
राजेन्द्र चौहान

आवरण

अमित श्रीवास्तव

रु. 11.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित ।

प्रकाशन विभाग मे सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली 110016 दवारा प्रकाशित तथा न्यू भारत ऑफसेट प्रिंटर्स, बी -124, सैक्टर -VI, नोएडा 201301 दवारा मुद्रित।

आमुख

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के तत्त्वावधान मे विद्यालयी स्तर पर विभिन्न शैक्षिक विषयों के लिए पाठ्यचर्या एवं तदनुरूप पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का कार्य लगभग चार दशको से हो रहा है। इसी क्रम में राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के लागू होने पर तदर्निहित सिद्धांतों, सुझावों और उद्देश्यों के अनुसार उपयुक्त शिक्षण सामग्री एवं पाठ्यपुस्तकों का निर्माण किया गया, जिनमें बाल-केंद्रित शिक्षा एवं शिक्षार्थियों के सर्वागीण विकास के उद्देश्यों पर विशेष ध्यान दिया गया ।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में यह सुझाव भी दिया गया था कि कुछ समय के पश्चात् ज्ञान-विज्ञान के विकास, सामाजिक रचना और नवीन दृष्टिकोण तथा मूल्यपरक शैक्षिक आवश्यकताओ को देखते हुए पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकों में यथावश्यक संशोधन और परिवर्तन अवश्य किया जाए। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2000' का निर्माण हुआ। तत्पश्चात् नवीन पाठ्यचर्या में सुझाए गए नवीन उद्देश्यो, जीवन मूल्यों, सूचना-संसाधनों एवं शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष की दृष्टि से अपेक्षित शैक्षिक बिंदुओं को समाहित करते हुए विविध विषयों का नवीन पाठ्यक्रम तैयार किया गया। तदनुसार नवीन पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का कार्य हाथ में लिया गया। इसी शृंखला में ग्यारहवी कक्षा के 'आधार पाठ्यक्रम' के लिए प्रस्तुत पूरक पाठ्यपुस्तक **विविधा** का प्रणयन किया गया है।

इस पूरक पाठ्यपुस्तक की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

1. ऐसी पाठ्यसामग्री एवं शैक्षिक क्रियाओं का समावेश, जिनसे विद्यार्थियों में राष्ट्रीय लक्ष्यों— जनतांत्रिकता, पंथनिरपेक्षता, समाजवाद, सामाजिक न्याय, समतावाद, संवैधानिक दायित्वों, मूल कर्तव्यों तथा राष्ट्रीय एकता के प्रति चेतना एवं आस्था उत्पन्न हो सके और उनमें तर्कसंगत वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो।

2. पाठ्यचर्या एवं पाठ्यसामग्री वर्तमान भारतीय जीवन-परिस्थितियों, समस्याओं (पर्यावरण, प्रदूषण, जनसंख्या विस्फोट आदि) तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश पर आधारित हो और उसमें वांछित भावी विकास की दिशा भी परिलक्षित हो।

3. पाठ्यपुस्तके विद्यार्थियों के भावात्मक एवं बौद्धिक उत्कर्ष, चरित्र-निर्माण तथा स्वस्थ मनोवृत्ति के विकास की दृष्टि से प्रेरणादायी सिद्ध हों, उनके द्वारा बच्चों में अधिकाधिक ज्ञानार्जन की उत्कंठा जाग्रत हो और वे निर्धारित पाठ्यविषय तक ही सीमित न रह कर विशद एवं व्यापक अध्ययन के लिए जिज्ञासु तथा तत्पर बने रहें।

प्रस्तुत पुस्तक के निर्माण में हमें अनेक शिक्षाविदों, भाषाशास्त्रियों एवं अध्यापकों का सहयोग मिला है। मै इन सभी के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। जिन लेखकों और साहित्यकारों ने अपनी रचनाएं इस पूरक पाठ्यपुस्तक में सम्मिलित किए जाने की अनुमति दी है, उनके प्रति मैं विशेष रूप से अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

इस पुस्तक के परिष्कार के लिए शिक्षाविदों, अध्यापकों और विद्यार्थियों द्वारा व्यक्त प्रतिक्रियाओं और सुझावों का हम सदैव स्वागत करेंगे।

जगमोहन सिंह राजपूत

निदेशक

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

जनवरी 2002

नई दिल्ली

संपादकीय

उपयुक्त पाठ्यक्रम का निर्धारण एवं तदनुरूप पाठ्यपुस्तक की रचना राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य है। राष्ट्रीय शैक्षिक योजना के क्रियान्वयन एवं शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ये मूल उपादान हैं। इस महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के तत्त्वावधान में विद्यालय स्तर की शिक्षा के लिए उपयुक्त पाठ्यक्रमों एवं पाठ्यपुस्तकों के प्रणयन का कार्य होता रहा है। पर यह कार्य एक सतत विकासशील प्रक्रिया है। बदलती हुई राष्ट्रीय परिस्थितियों, आवश्यकताओं, नूतन जीवन-मूल्यों तथा वांछित विकास की दिशाओं के अनुरूप इनमें संशोधन और परिवर्तन आवश्यक हो जाता है।

इसी परिप्रेक्ष्य में परिषद् ने सन् 2000 में 'विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या' की रूपरेखा का निर्माण किया। इस पाठ्यचर्या के आधार पर विविध विषयों के पाठ्यक्रम निर्धारित किए गए। उनके अनुसार परिषद् ने सभी विषयों की नवीन पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का काम हाथ में लिया। इसी कार्यक्रम के अंतर्गत कक्षा ग्यारह के लिए 'आधार पाठ्यक्रम' के अनुसार हिंदी की यह पूरक पाठ्यपुस्तक तैयार की गई है। इसमें ऐसे पाठों का समावेश किया गया है जिनसे विद्यार्थियो में स्वयं पढ़कर समझने की प्रवृत्ति का विकास हो और उनकी पठन रुचि का विस्तार भी।

1. इस पुस्तक में कहानी, लघुकथा, संस्मरणात्मक वर्णन, जीवनी तथा एकांकी से संबंधित पाठ संकलित हैं। इनके चयन में इस बात का ध्यान रखा गया है कि प्रत्येक विधा से संबंधित ऐसे पाठ चुने जाएँ, जिनसे उस विधा की साहित्यिक विशेषताओं का परिचय विद्यार्थियों को प्राप्त हो और वह पाठ उस विधा का प्रतिनिधित्व करने वाला भी हो।

2. पाठों के चयन में हिंदी के प्रतिनिधि साहित्यकारों का भी ध्यान रखा गया है। इनसे कृति के साथ-साथ लेखक की विधागत शैली का भी परिचय विद्यार्थियों को मिलेगा।

3. इन पाठों के चयन में विषय-सामग्री की विविधता का भी ध्यान रखा गया है। इनके माध्यम से जीवन के विविध संदर्भों और दिशाओं से विद्यार्थियों का परिचय हो सकेगा, जैसे –

क. इस पुस्तक में तीन कहानियाँ रखी गई हैं– प्रेमचंद रचित 'जुलूस', आशापूर्णा देवी रचित 'मुक्तिदाता' (अनूदित) और शिवानी कृत 'मेरा भाई'। इन तीनों कहानियों का कथ्य जीवन के विविध पक्षों से संबंधित है। 'जुलूस' में त्याग, बलिदान और देशभक्ति के साथ-साथ दमन करने वाले अधिकारी के हृदय परिवर्तन का भी मर्मस्पर्शी चित्रण है। इसमें अहिंसात्मक सत्याग्रह आंदोलन की झलक मिलती है। आशापूर्णा देवी की कहानी 'मुक्तिदाता' में यह चित्रित किया गया है कि व्यक्ति के अवगुणों को न देखकर पहले उस पर विश्वास करो। कहानी की परिणति भी इसकी सत्यता को सिद्ध करती है। तीसरी कहानी 'मेरा भाई' में धर्म, जाति से ऊपर उठकर मानवीय संबंधों और संवेदनाओं की सार्थकता पर बल दिया गया है।

ख. इस पुस्तक के एक पाठ में चुनी हुई चार लघुकथाएँ रखी गई हैं, जिनसे जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। लघुकथा स्वयं एक स्वतंत्र साहित्यिक विधा के रूप में विकसित हुई है, जिसमें किसी कथा-सूत्र को लेकर अत्यंत संक्षेप में जीवन के किसी एक मनोभाव या प्रवृत्ति का वर्णन इस रूप में रहता है कि पाठक को वह प्रभावित कर लेता है।

'रिश्ता' लघुकथा में मानवमात्र के प्रति बड़े ही स्नेह व निष्ठा के साथ निःस्वार्थ सेवा भावना का अपूर्व परिचय मिलता है। दूसरी लघुकथा 'खबर जो छप न सकी' में सांप्रदायिक दंगों के बीच प्रेम और आत्मीयता से भरे पारिवारिक जीवन का अद्भुत चित्रण है। 'अच्छा कौन' लघु कथा में संपर्क भाषा के रूप में हिंदी की सार्वदेशिक प्रकृति को बड़े ही चुटीले ढंग से व्यक्त किया गया है। 'समझ' लघुकथा में आज नौकरशाही में फैले भ्रष्टाचार का खुले रूप में पर्दाफ़ाश हुआ है।

ग. 'मास्को से आँखो देखा हाल' पाठ संस्मरणात्मक वर्णन विधा में लिखा गया पाठ है, जिसमें भाषा की सजीवता, रोचकता और प्रवाह देखते ही बनता है।

घ. 'कर्मयोगी लाल बहादुर शास्त्री' मे लेखक ने उन्हें एक सच्चे कर्मयोगी के रूप में चित्रित किया है, जिनका जीवन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश का निर्माण करने में ही व्यतीत हुआ।

ङ. 'दो कलाकार' हास्य प्रधान एकांकी हे जिसमें दो अभावग्रस्त कलाकारों (कवि और चित्रकार) के अद्भुत वाक् चातुर्य तथा सामान्य परिस्थितियों को भी हास्यपूर्ण बना देने की अद्भुत क्षमता का सुंदर चित्रण है।

4. प्रत्येक पाठ के अंत में कुछ बोधपरक प्रश्न दिए गए हैं। उनके परिप्रेक्ष्य में पाठ पढ़ने पर छात्र-छात्राओं को उसके प्रमुख भाव और विचारों को ग्रहण करने में सहायता मिलेगी और वे स्वतंत्र रूप से उनके संबंध में चिंतन और मनन भी कर सकेगे।

इस पुस्तक के निर्माण में हमें अनेक शिक्षाविदों ओर भाषाशास्त्रियों का सहयोग मिला है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं। परिषद् के सामाजिक विज्ञान और मानविकी शिक्षा विभाग के अध्यक्ष तथा हिंदी पाठ्यपुस्तकों के प्रणयन से संबंधित सदस्यों का हमें जो अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

हिंदी भाषा का स्तर ऊँचा करने तथा विद्यार्थियों में साहित्यिक अभिरुचि का विकास करने में यदि इस पुस्तक का योगदान हो सका तो हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे।

पाठ्यपुस्तक-निर्माण-समिति

सत्येंद्र वर्मा
प्रोफेसर (संयोजक)

सुरेश चंद्र पाण्डेय
प्रोफेसर

स्नेह लता प्रसाद
रीडर

सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली

पांडुलिपि-समीक्षा-संशोधन कार्यगोष्ठी के सदस्य

1. निरंजन कुमार सिंह
अवकाश प्राप्त रीडर
सा.वि.मा.शि.वि.
एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली

2. माणिक गोविंद चतुर्वेदी
अवकाश प्राप्त प्रोफ़ेसर
केंद्रीय हिंदी संस्थान, 'सूर्यमुखी'
श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली

3. आनंद प्रकाश व्यास
अवकाश प्राप्त रीडर
शिक्षा विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

4. कृष्ण कुमार गोस्वामी
प्रोफ़ेसर
केंद्रीय हिन्दी संस्थान, 'सूर्यमुखी'
श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली

5. लोकेंद्र चतुर्वेदी
प्राचार्य
शासकीय विद्यालय
कनाडिया, इंदौर, म.प्र.

6. अमर गोस्वामी
लेखक
एफ-12, सेक्टर-12
नोएडा, गौतमबुद्ध नगर, उ.प्र.

7. दिनेश गुप्त
रीडर
पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुबर्ती शिक्षा
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

8. सुरेश पंत
अवकाश प्राप्त प्रवक्ता
रा.उ.मा. बाल विद्यालय,
जनकपुरी, नई दिल्ली

9. कुसुम लता अग्रवाल
हिंदी अध्यापिका
सर्वोदय बाल विद्यालय,
रमेश नगर, नई दिल्ली

10. लक्ष्मी मुकुंद
वरिष्ठ हिंदी अध्यापिका
डी.टी.ई.ए. स्कूल, सेक्टर-4
आर.के.पुरम, नई दिल्ली

पाठ-सूची

भारत का संविधान

भाग 4अ

नागरिकों के मूल कर्त्तव्य

अनुच्छेद 51अ

मूल कर्त्तव्य - भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह -

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,

(ख) स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में सजोए रखे और उनका पालन करे,

(ग) भारत की सप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे,

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधरित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरूद्ध हो,

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्रणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे, और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियो के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू सके।

1. जुलूस

❑ प्रेमचंद

पूर्ण स्वराज्य का जुलूस निकल रहा था। कुछ युवक, कुछ बूढ़े, कुछ बालक झंडियाँ और झंडे लिए वंदेमातरम् गाते हुए माल के सामने से निकले। दोनों तरफ़ दर्शकों की दीवारें खड़ी थीं, मानो उन्हें इस लक्ष्य से कोई सरोकार नहीं है, मानो यह कोई तमाशा है और उनका काम केवल खड़े-खड़े देखना है।

शंभूनाथ ने दुकान की पटरी पर खड़े होकर अपने पड़ोसी दीनदयाल से कहा – सब के सब काल के मुँह में जा रहे हैं। आगे सवारों का दल मार-मार भगा देगा।

दीनदयाल ने कहा – महात्मा भी सठिया गए हैं। जुलूस निकालने से स्वराज्य मिल जाता तो अब तक कब का मिल गया होता। और, जुलूस में हैं कौन लोग, देखो – लौंडे, लफंगे, सिर-फिरे। शहर का कोई बड़ा आदमी नहीं।

मैकू चट्टियों और स्लीपरों की माला गरदन में लटकाए खड़ा था। इन दोनों सेठों की बातें सुनकर हँसा।

शंभू ने पूछा – क्यों हँसे मैकू? आज रंग चोखा मालूम होता है।

मैकू – हँसा इस बात पर जो तुमने कही कि कोई बड़ा आदमी जुलूस में नहीं है। बड़े आदमी क्यों जुलूस में आने लगे, उन्हें इस राज में कौन आराम नहीं है? बँगलों और महलों में रहते हैं, मोटरों पर घूमते हैं, साहबों के साथ दावत खाते हैं, कौन तकलीफ है? मर तो

हम लोग रहे हैं, जिन्हें रोटियों का ठिकाना नहीं। इस बखत कोई टेनिस खेलता होगा, कोई चाय पीता होगा, कोई ग्रामोफ़ोन लिए गाना सुनता होगा, कोई पारिक की सैर करता होगा, यहाँ आए पुलिस के कोड़े खाने के लिए? तुमने भी भली कही!

शंभू – तुम यह सब बातें क्या समझोगे मैकू, जिस काम में चार बड़े आदमी अगुआ होते हैं, उसकी सरकार पर भी धाक बैठ जाती है। लौंडों-लफंगों का गोल भला, हाकिमों की निगाह में क्या जँचेगा?

मैकू ने ऐसी दृष्टि से देखा, जो कह रही थी – इन बातों के समझने का ठेका कुछ तुम्हीं ने नहीं लिया है और बोला – बड़े आदमी को तो हमीं लोग बनाते-बिगाड़ते हैं या कोई और? कितने ही लोग जिन्हें कोई पूछता भी न था, हमारे ही बनाए बड़े आदमी बन गए और अब मोटरों पर निकलते हैं और हमें नीच समझते हैं। यह लोगों की तकदीर की खूबी है कि जिसकी जरा बढ़ती हुई और उसने हमसे आँखें फेरी। हमारा बड़ा आदमी तो वही है, जो लँगोटी बाँधे नंगे पाँव घूमता है, जो हमारी दशा को सुधारने के लिए अपनी जान हथेली पर लिए फिरता है। और हमें किसी बड़े आदमी की परवाह नहीं है। सच पूछो तो इन बड़े आदमियों ने हमारी मिट्टी खराब कर रखी है। इन्हें सरकार ने कोई अच्छी-सी जगह दे दी, बस उसका दम भरने लगे।

दीनदयाल – नया दरोगा बड़ा जल्लाद है। चौरास्ते पर पहुँचते ही हंटर लेकर पिल पड़ेगा। फिर देखना, सब कैसे दुम दबाकर भागते हैं। मज़ा आएगा।

जुलूस स्वाधीनता के नशे में चूर चौरास्ते पर पहुँचा तो देखा, आगे सवारों और सिपाहियों का एक दस्ता रास्ता रोके खड़ा है।

सहसा दरोगा बीरबल सिंह घोड़ा बढ़ाकर जुलूस के सामने आ गए और बोले – तुम लोगों को आगे जाने का हुक्म नहीं है।

जुलूस के बड़े नेता इब्राहीम अली ने आगे बढ़कर कहा – मैं आपको इतमीनान दिलाता हूँ, किसी किस्म का दंगा-फ़साद न होगा। हम दुकानें लूटने या मोटरें तोड़ने नहीं निकले हैं। हमारा मकसद इससे कहीं ऊँचा है।

बीरबल — मुझे यह हुक्म है कि जुलूस यहाँ से आगे न जाने पाए।

इब्राहीम — आप अपने अफ़सरों से ज़रा पूछ न लें।

बीरबल — मैं इसकी कोई ज़रूरत नहीं समझता।

इब्राहीम — तो हम लोग यही बैठते हैं। जब आप लोग चले जाएँगे तो हम निकल जाएँगे।

बीरबल — यहाँ खड़े होने का भी हुक्म नहीं है। तुमको वापस जाना पड़ेगा।

इब्राहीम ने गंभीर भाव से कहा — वापस तो हम न जाएँगे। आपको या किसी को भी, हमें रोकने का कोई हक नही। आप अपने सवारों, संगीनों और बंदूकों के ज़ोर से हमें रोकना चाहते हैं, रोक लीजिए; मगर आप हमें लौटा नहीं सकते। न जाने वह दिन कब आएगा, जब हमारे भाई-बंद ऐसे हुक्मों की तामील करने से साफ़ इनकार कर देंगे, जिनकी मंशा महज़ कौम को गुलामी की ज़ंजीरों में जकड़े रखना है।

बीरबल ग्रैजुएट था। उसका बाप सुपरिंटेंडेंट पुलिस था। उसकी नस-नस में रोब भरा हुआ था। अफ़सरों की दृष्टि में उसका बड़ा सम्मान था। खासा गोरा-चिट्टा, नीली आँखों और भूरे बालों वाला तेजस्वी पुरुष था। शायद जिस वक्त वह कोट पहनकर ऊपर से हैट लगा लेता, तो भूल जाता था कि मैं भी यहाँ का रहने वाला हूँ। शायद वह अपने को राज्य करने वाली जाति का अंग समझने लगता था; मगर इब्राहीम के शब्दों में जो तिरस्कार भरा हुआ था, उसने ज़रा देर के लिए उसे लज्जित कर दिया। पर मुआमला नाज़ुक था। जुलूस को रास्ता दे देता है, तो जवाब तलब हो जाएगा; वहीं खड़ा रहने देता है, तो यह सब न जाने कब तक खड़े रहें। इस संकट में पड़ा हुआ था कि उसने डी.एस.पी. को घोड़े पर आते देखा। अब सोच-विचार का समय न था। यही मौका था कारगुज़ारी दिखाने का। उसने कमर से बेटन निकाल लिया और घोड़े को एड़ लगाकर जुलूस पर चढ़ाने लगा। उसे देखते ही और सवारों ने भी घोड़ों को जुलूस पर चढ़ाना शुरू कर दिया। इब्राहीम दरोगा के घोड़े के सामने खड़ा था। उसके सिर पर एक बेटन ऐसे ज़ोर से पड़ा कि उसकी आँखें तिलमिला गई। खड़ा न रह सका। सिर पकड़कर बैठ गया। उसी वक्त दरोगाजी के घोड़े ने दोनों पाँव उठाए और ज़मीन पर बैठा हुआ

इब्राहीम उसके टापों के नीचे आ गया। जुलूस अभी तक शांत खड़ा था। इब्राहीम को गिरते देखकर कई आदमी उसे उठाने के लिए लपके, मगर कोई आगे न बढ़ सका। उधर सवारों के डंडे बड़ी निर्दयता से पड़ रहे थे। लोग हाथों पर डंडों को रोकते थे और अविचलित रूप से खड़े थे। हिंसा के भावों में प्रवाहित न हो जाना उनके लिए प्रतिक्षण कठिन होता जाता था। जब आघात और अपमान ही सहना है, तो फिर हम भी इस दीवार को पार करने की क्यों न चेष्टा करें? लोगों को खयाल आया, शहर के लाखों आदमियों की निगाहें हमारी तरफ़ लगी हुई हैं। यहाँ से यह झंडा लेकर लौट जाएँ, तो फिर किस मुँह से आज़ादी का नाम लेंगे; मगर प्राण-रक्षा के लिए भागने का किसी को ध्यान भी न आता था। यह पेट के भक्तों, किराए के टट्टुओं का दल न था। यह स्वाधीनता के सच्चे स्वयंसेवकों का, आज़ादी के दीवानों का *संगठित दल था। अपनी ज़िम्मेदारियों को खूब समझता था। कितने ही के सिरों से खून जारी* था, कितने ही के हाथ ज़ख्मी हो गए थे। एक हल्ले में यह लोग सवारों की सफ़ों को चीर सकते थे, मगर पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं – सिद्धांत की, धर्म की, आदर्श की।

दस-बारह मिनट तक यों ही डंडों की बौछार होती रही और लोग शांत खड़े रहे।

इस मार-धाड़ की खबर एक क्षण में बाज़ार में जा पहुँची। इब्राहीम घोड़े से कुचल गए, कई आदमी ज़ख्मी हो गए, कई के हाथ टूट गए; मगर न वे लोग पीछे फिरते हैं और न पुलिस उन्हें आगे जाने देती है।

मैकू ने उत्तेजित होकर कहा – अब तो भाई, यहाँ नहीं रहा जाता। मैं भी चलता हूँ।

दीनदयाल ने कहा – हम भी चलते हैं भाई, देखी जाएगी।

शंभू एक मिनट तक मौन खड़ा रहा। एकाएक उसने भी दुकान बढ़ाई और बोला – एक दिन तो मरना ही है, जो कुछ होना है, हो। आखिर वे लोग सभी के लिए तो जान दे रहे हैं। देखते-देखते अधिकांश दुकानें बंद हो गईं। वह लोग, जो दस मिनट पहले तमाशा देख रहे थे, इधर-उधर से दौड़ पड़े और हज़ारों आदमियों का एक विराट दल घटनास्थल की ओर चला। यह उन्मत्त, हिंसामद से भरे हुए मनुष्यों का समूह था, जिसे सिद्धांत और आदर्श की

परवाह न थी, जो मरने के लिए ही नहीं, मारने के लिए भी तैयार थे। कितनों ही के हाथों में लाठियाँ थी, कितने ही जेबों में पत्थर भरे हुए थे। न कोई किसी से कुछ बोलता था, न पूछता था। बस, सब-के-सब मन में एक दृढ़ संकल्प लिए लपके चले जा रहे थे, मानो कोई घटा उमड़ी चली आती हो।

इस दल को दूर से देखते ही सवारों में कुछ हलचल पड़ी। बीरबल सिंह के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। डी.एस.पी. ने अपनी मोटर आगे बढ़ाई। शांति और अहिंसा के व्रतधारियों पर डंडे बरसाना और बात थी, एक उन्मत्त दल से मुकाबला करना दूसरी बात। सवार और सिपाही पीछे खिसक गए।

इब्राहीम की पीठ पर घोड़े ने टाप रख दी। वह अचेत ज़मीन पर पड़े थे। इन आदमियों का शोर-गुल सुनकर आप ही आप उनकी आँखें खुल गईं। एक युवक को इशारे से बुलाकर कहा – क्यों कैलाश, क्या कुछ लोग शहर से आ रहे है?

कैलाश ने उस बढ़ती हुई घटा की ओर देखकर कहा – जी हाँ, हज़ारों आदमी हैं।

इब्राहीम – तो अब खैरियत नहीं है। झंडा लौटा दो। हमें फ़ौरन लौट चलना चाहिए, नहीं तूफ़ान मच जाएगा। हमें अपने भाइयों से लड़ाई नहीं करनी है। फ़ौरन लौट चलो।

यह कहते हुए उन्होंने उठने की चेष्टा की, मगर उठ न सके।

इशारे की देर थी। संगठित सेना की भाँति लोग हुक्म पाते ही पीछे फिर गए। झंडियों के बाँसों, साफ़ों और रूमालों से चटपट एक स्ट्रेचर तैयार हो गया। इब्राहीम को लोगों ने उस पर लिटा दिया और पीछे फिरे। मगर क्या वह परास्त हो गए थे? अगर कुछ लोगों को उन्हें परास्त मानने में ही संतोष हो तो हो, लेकिन वास्तव में उन्होंने एक युगांतकारी विजय प्राप्त की थी। जानते थे, हमारा संघर्ष अपने ही भाइयों से है, जिनके हित परिस्थितियों के कारण हमारे हितों से भिन्न हैं। हमें उनसे वैर नहीं करना है। फिर वह यह भी नहीं चाहते कि शहर में लूट और दंगों का बाज़ार गर्म हो जाए और हमारे धर्मयुद्ध का अंत लुटी हुई दुकानें, फूटे हुए सिर हों। उनकी विजय का सबसे उज्ज्वल चिह्न यह था कि उन्होंने जनता की सहानुभूति प्राप्त

कर ली थी। वही लोग, जो पहले उन पर हँसते थे, उनका धैर्य और साहस देखकर उनकी सहायता के लिए निकल पड़े थे। मनोवृत्ति का यह परिवर्तन ही हमारी असली विजय है। हमें किसी से लडाई करने की ज़रूरत नही, हमारा उद्‌देश्य केवल जनता की सहानुभूति प्राप्त करना है, उसकी मनोवृत्तियों को बदल देना है। जिस दिन हम इस लक्ष्य पर पहुँच जाएँगे, उसी दिन स्वराज्य का सूर्य उदय होगा।

तीन दिन गुज़र गए थे। बीरबल सिंह अपने कमरे में बैठे चाय पी रहे थे और उनकी पत्नी मिट्‌ठनबाई शिशु को गोद में लिए सामने खड़ी थी।

बीरबल सिंह ने कहा — मैं क्या करता उस वक्त। पीछे डी.एस.पी. खड़ा था। अगर उन्हें रास्ता दे देता, तो अपनी जान मुसीबत में फँसती।

मिट्‌ठनबाई ने सिर हिलाकर कहा — तुम कम से कम इतना तो कर ही सकते थे कि उन पर डंडे न चलाने देते। तुम्हारा काम आदमियों पर डंडे चलाना है? तुम ज़्यादा से ज़्यादा उन्हें रोक सकते थे। कल को तुम्हें अपराधियों को बेंत लगाने का काम दिया जाए, तो शायद तुम्हें बड़ा आनंद आएगा, क्यों?

बीरबल सिंह ने खिसियाकर कहा — तुम तो बात नहीं समझती हो।

मिट्‌ठनबाई — मै खूब समझती हूँ। डी.एस.पी. पीछे खड़ा था। तुमने सोचा होगा, ऐसी कारगुज़ारी दिखाने का अवसर शायद फिर कभी मिले या न मिले। क्या तुम समझते हो, उस दल में कोई भला आदमी न था? उसमें कितने आदमी ऐसे थे, जो तुम्हारे जैसों को नौकर रख सकते हैं। विद्‌या में तो शायद अधिकांश तुमसे बढ़े हुए होंगे। मगर तुम उन पर डंडे चला रहे थे और उन्हें घोड़े से कुचल रहे थे, वाह री जवाँमर्दी!

बीरबल सिंह ने बेहयाई की हँसी के साथ कहा — डी.एस.पी. ने मेरा नाम नोट कर लिया है। सच!

दरोगाजी ने समझा था कि यह सूचना देकर वह मिट्‌ठनबाई को खुश कर देंगे। सज्जनता और भलमनसी आदि ऊपर की बातें हैं, दिल से नहीं, ज़बान से कही जाती हैं। स्वार्थ दिल की गहराइयों में बैठा होता है। वह गंभीर विचार का विषय है।

मगर मिट्ठनबाई के मुख पर हर्ष की कोई रेखा न नज़र आई, ऊपर की बातें शायद गहराइयों तक पहुँच गई थीं! बोली – ज़रूर कर लिया होगा और शायद तुम्हें जल्द तरक्की भी मिल जाए। मगर बेगुनाहों के खून से हाथ रँगकर तरक्की पाई, तो क्या पाई! यह तुम्हारी कारगुज़ारी का इनाम नही, तुम्हारे देशद्रोह की कीमत है। एकाएक एक सिपाही ने बरामदे में खड़े होकर कहा – हुज़ूर, यह लिफ़ाफ़ा लाया हूँ। बीरबल सिंह ने बाहर निकलकर लिफ़ाफ़ा ले लिया और भीतर की सरकारी चिट्ठी निकालकर पढ़ने लगे। पढ़कर उसे मेज़ पर रख दिया।

मिट्ठनबाई ने पूछा – क्या तरक्की का परवाना आ गया?

बीरबल सिंह ने झेंपकर कहा – तुम तो बनाती हो! आज फिर कोई जुलूस निकलने वाला है। मुझे उसके साथ रहने का हुक्म हुआ है।

मिट्ठन – फिर तो तुम्हारी चाँदी है, तैयार हो जाओ। आज फिर वैसे ही शिकार मिलेंगे। खूब बढ़-बढ़कर हाथ दिखलाना! डी.एस.पी. भी ज़रूर आएँगे। अबकी तुम इंस्पेक्टर हो जाओगे। सच!

बीरबल सिंह ने माथा सिकोड़कर कहा – कभी-कभी तुम बेसिर-पैर की बातें करने लगती हो। मान लो, मैं जाकर चुपचाप खड़ा रहूँ तो, क्या नतीजा होगा। मैं नालायक समझा जाऊँगा और मेरी जगह कोई दूसरा आदमी भेज दिया जाएगा। कही शुबहा हो गया कि मुझे स्वराज्यवादियों से सहानुभूति है, तो कहीं का न रहूँगा। अगर बर्खास्त न भी हुआ, तो लैन की हाज़िरी तो हो ही जाएगी। आदमी जिस दुनिया में रहता है, उसी का चलन देखकर काम करता है। मैं बुद्धिमान न सही; पर इतना जानता हूँ कि ये लोग देश और जाति का उद्धार करने के लिए ही कोशिश कर रहे हैं। यह भी जानता हूँ कि सरकार इस खयाल को कुचल डालना चाहती है। ऐसा गधा नहीं हूँ कि गुलामी की ज़िंदगी पर गर्व करूँ लेकिन परिस्थिति से मज़बूर हूँ।

बाजे की आवाज़ कानों में आई। बीरबल सिंह ने बाहर जाकर पूछा। मालूम हुआ, स्वराज्य वालों का जुलूस आ रहा है। चटपट वरदी पहनी, साफ़ा बाँधा और जेब में पिस्तौल रखकर बाहर आए। एक क्षण में घोड़ा तैयार हो गया। कांस्टेबल पहले ही से तैयार बैठे थे। सब लोग डबल मार्च करते हुए जुलूस की तरफ़ चले।

वे लोग डबल मार्च करते हुए कोई पंद्रह मिनट में जुलूस के सामने पहुँच गए। इन लोगों को देखते ही अगणित कंठो से 'वंदेमातरम्' की एक ध्वनि निकली, मानो मेघमंडल में गर्जन का शब्द हुआ हो, फिर सन्नाटा छा गया। उस जुलूस में और इस जुलूस में कितना अंतर था! वह स्वराज्य के उत्सव का जुलूस था, यह एक शहीद के मातम का। तीन दिन के भीषण ज्वर और वेदना के बाद आज उस जीवन का अंत हो गया, जिसने कभी पद की लालसा नही की, कभी अधिकार के सामने सिर नहीं झुकाया। उन्होंने मरते समय वसीयत की थी कि मेरी लाश को गंगा में नहलाकर दफ़न किया जाए और मेरे मज़ार पर स्वराज्य का झंडा खड़ा किया जाए। उनके मरने का समाचार फैलते ही सारे शहर पर मातम का परदा-सा पड़ गया। जो सुनता था, एक बार इस तरह चौंक पड़ता था, जैसे उसे गोली लग गई हो और तुरंत उनके दर्शनों के लिए भागता था। सारे बाज़ार बंद हो गए, इक्कों और ताँगों का कहीं पता न था, जैसे शहर लुट गया हो। देखते-देखते सारा शहर उमड़ पड़ा। जिस वक्त जनाज़ा उठा, लाख-सवा-लाख आदमी साथ थे। कोई आँख ऐसी न थी, जो आँसुओं से लाल न हो।

बीरबल सिंह अपने कांस्टेबलों और सवारों को पाँच-पाँच गज़ के फ़ासले पर जुलूस के साथ चलने का हुक्म देकर खुद पीछे चले गए। पिछली सफ़ों में कोई पचास गज़ तक महिलाएँ थीं। दरोगा ने उनकी तरफ़ ताका। पहली ही कतार में मिट्ठनबाई नज़र आई। बीरबल को विश्वास न आया। फिर ध्यान से देखा, वही थीं। मिट्ठन ने उनकी तरफ़ एक बार देखा और आँखें फेर ली, पर उसकी एक चितवन में कुछ ऐसा धिक्कार, कुछ ऐसी लज्जा, कुछ ऐसी व्यथा, कुछ ऐसी घृणा भरी हुई थी कि बीरबल सिंह की देह में सिर से पाँव तक सनसनी-सी दौड़ गई। वह अपनी दृष्टि में कभी इतने हलके, इतने दुर्बल, इतने ज़लील न हुए थे।

सहसा एक युवती ने दरोगाजी की तरफ़ देखकर कहा — कोतवाल साहब कहीं हम लोगों पर डंडे न चला दीजिएगा। आपको देखकर भय हो रहा है!

दूसरी बोली — आप ही के कोई भाई तो थे, जिन्होंने उस माल के चौरास्ते पर इस पुरुष पर आघात किए थे।

मिट्ठन ने कहा — आपके कोई भाई न थे, आप खुद थे।

बीसियों की मुँह से आवाज़ें निकली — अच्छा, यह वही महाशय हैं? महाशय आपको नमस्कार है। यह आप ही की कृपा का फल है कि आज हम भी आपके डंडे के दर्शन के लिए आ खड़ी हुई हैं!

बीरबल ने मिट्ठनबाई की ओर आँखों का भाला चलाया; मुँह से कुछ न बोले। एक तीसरी महिला ने फिर कहा — हम एक जलसा करके आपको जयमाला पहनाएँगे और आपका यशोगान करेंगे।

चौथी ने कहा — आप बिलकुल अंग्रेज़ मालूम होते हैं, तभी इतने गोरे हैं!

एक बुढ़िया ने आँखें चढ़ाकर कहा — मेरी कोख में ऐसा बालक जन्मा होता, तो उसकी गरदन मरोड़ देती!

एक युवती ने उसका तिरस्कार करके कहा — आप भी खूब कहती हैं, माताजी, कुत्ते तक तो नमक का हक अदा करते हैं, यह तो आदमी हैं!

बुढ़िया ने झल्लाकर कहा — पेट के गुलाम, हाय पेट! हाय पेट!

इस पर कई स्त्रियों ने बुढ़िया को आड़े हाथों ले लिया और वह बेचारी लज्जित होकर बोली — अरे मैं कुछ कहती थोड़े ही हूँ। मगर ऐसा आदमी भी क्या, जो स्वार्थ के पीछे अंधा हो जाए।

बीरबल सिंह अब और न सुन सके। घोड़ा बढ़ाकर जुलूस से कई गज़ पीछे चले गए। मर्द लज्जित करता है, तो हमें क्रोध आता है; स्त्रियाँ लज्जित करती हैं, तो ग्लानि उत्पन्न होती

है। बीरबल सिंह को इस वक्त इतनी हिम्मत न थी कि फिर उन महिलाओं के सामने जाते। अपने अफ़सरों पर क्रोध आया। मुझी को बार-बार क्यों इन कामों पर तैनात किया जाता है? ओर लोग भी तो हैं, उन्हें क्यों नहीं लाया जाता? क्या मैं ही सबसे गया-बीता हूँ! क्या मैं ही सबसे भावशून्य हूँ!

मिट्ठी इस वक्त मुझे दिल में कितना कायर और नीच समझ रही होगी? शायद इस वक्त मुझे कोई मार डाले, तो वह ज़बान भी न खोलेगी। शायद मन में प्रसन्न होगी कि अच्छा हुआ। अभी कोई जाकर साहब से कह दे कि बीरबल सिंह की स्त्री जुलूस में निकली थी, तो कही का न रहूँ! मिट्ठी जानती है, समझती है, फिर भी निकल खड़ी हुई। मुझसे पूछा तक नही। कोई फ़िक्र नही है न, तभी ये बातें सूझती हैं। यहाँ सभी बेफ़िक्र हैं, कॉलेजों और स्कूलों के लड़के, मज़दूर पेशेवर, इन्हें क्या चिंता? मरन तो हम लोगों का है, जिनके बाल-बच्चे हैं और कुल-मर्यादा का ध्यान है। सबकी सब मेरी तरफ़ कैसा घूर रही थीं, मानो खा जाएँगी।

जुलूस शहर की मुख्य सड़कों से गुज़रता हुआ चला जा रहा था। दोनों ओर छतो पर, छज्जों पर, जँगलों पर, वृक्षों पर दर्शकों की दीवारें-सी खड़ी थीं। बीरबल सिंह को आज उनके चेहरों पर एक नई स्फूर्ति, एक नया उत्साह, एक नया गर्व झलकता हुआ मालूम होता था। स्फूर्ति थी वृद्धों के चेहरे पर, उत्साह युवकों के और गर्व रमणियों के। यह स्वराज्य के पथ पर चलने का उल्लास था। अब उनकी यात्रा का लक्ष्य अज्ञात न था, पथभ्रष्टों की भाँति इधर-उधर भटकना न था, दलितों की भाँति सिर झुकाकर रोना न था। स्वाधीनता का सुनहला शिखर सुदूर आकाश में चमक रहा था। ऐसा जान पड़ता था कि लोगों को बीच के नालों और जंगलों की परवाह नहीं है। सब उस सुनहले लक्ष्य पर पहुँचने के लिए उत्सुक हो रहे हैं।

ग्यारह बजते-बजते जुलूस नदी के किनारे जा पहुँचा, जनाज़ा उतारा गया और लोग शव को गंगा-स्नान कराने के लिए ले चले। उसके शीतल, शांत, पीले मस्तक पर लाठी की चोट साफ़ नज़र आ रही थी। रक्त जमकर काला हो गया था। सिर के बड़े-बड़े बाल खून जम जाने से किसी चित्रकार की तूलिका की भाँति चिमट गए थे। कई हज़ार आदमी इस शहीद के अंतिम दर्शनों के लिए खड़े हो गए। बीरबल सिंह पीछे घोड़े पर सवार खड़े थे। लाठी की

चोट उन्हें भी नज़र आई। उनकी आत्मा ने ज़ोर से धिक्कारा। वह शव की ओर न ताक सके। मुँह फेर लिया। जिस मनुष्य के दर्शनों के लिए, जिसके चरणों की रज मस्तक पर लगाने के लिए लाखों आदमी विकल हो रहे हैं, उसका मैंने इतना अपमान किया! उनकी आत्मा इस समय स्वीकार कर रही थी कि उस निर्दय प्रहार में कर्तव्य के भाव का लेश भी न था, केवल स्वार्थ था, कारगुज़ारी दिखाने की हवस और अफ़सरों को खुश करने की लिप्सा थी। हज़ारों आँखें क्रोध से भरी हुई उनकी ओर देख रही थीं; पर वह सामने ताकने का साहस न कर सकते थे।

एक कांस्टेबल ने आकर प्रशंसा की – हुज़ूर का हाथ गहरा पड़ा था। अभी तक खोपड़ी खुली हुई है। सबकी ऑखें खुल गईं।

बीरबल ने उपेक्षा की – मैं इसे अपनी जवाँमर्दी नही, अपना कमीनापन समझता हूँ।

कांस्टेबल ने फिर खुशामद की – बड़ा सरकश आदमी था हुज़ूर!

बीरबल ने तीव्र भाव से कहा – चुप रहो! जानते भी हो, सरकश किसे कहते हैं? सरकश वे कहलाते हैं, जो डाके मारते हैं, चोरी करते हैं, खून करते हैं, उन्हें सरकश नहीं कहते, जो देश की भलाई के लिए अपनी जान हथेली पर लिए फिरते हों। हमारी बदनसीबी है कि जिनकी मदद करनी चाहिए, उनका विरोध कर रहे हैं। यह घमंड करने और खुश होने की बात नहीं है, शर्म करने और रोने की बात है।

स्नान समाप्त हुआ। जुलूस यहाँ से फिर रवाना हुआ।

शव को जब ख़ाक के नीचे सुलाकर लोग लौटने लगे तो दो बज गए थे। मिट्ठनबाई स्त्रियों के साथ-साथ कुछ दूर तक तो आई, पर क्वीन्स पार्क में आकर ठिठक गई। घर जाने की इच्छा न हुई। वह जीर्ण, आहत, रक्तरंजित शव, मानो उसके अंतस्तल में बैठा उसे धिक्कार रहा था। पति से उसका मन इतना विरक्त हो गया था कि अब उसे धिक्कारने की भी उसकी इच्छा न थी। ऐसे स्वार्थी मनुष्य पर भय के सिवा और किसी चीज़ का असर हो सकता है, इसका उसे विश्वास ही न था।

वह बड़ी देर तक पार्क में घास पर बैठकर सोचती रही, पर अपने कर्तव्य का कुछ निश्चय न कर सकी। मायके जा सकती थी, किंतु वहाँ से महीने-दो महीने में फिर इसी घर आना पड़ेगा। नहीं, मैं किसी की आश्रित न बनूँगी। क्या मैं अपने गुज़र-बसर को भी नहीं कमा सकती? उसने स्वयं भाँति-भाँति की कठिनाइयों की कल्पना की; पर आज उसकी आत्मा में न जाने इतना बल कहाँ से आ गया था। इन कल्पनाओं को ध्यान में लाना ही उसे अपनी कमज़ोरी मालूम हुई।

सहसा उसे इब्राहीम अली की वृद्धा विधवा का खयाल आया। उसने सुना था, उनके लड़के-बाले नहीं हैं। बेचारी बैठी रो रही होगी। कोई तसल्ली देनेवाला भी पास न होगा। वह उनके मकान की ओर चली। पता उसने पहले ही अपने साथ की औरतों से पूछ लिया था। वह दिल में सोचती जाती थी – मैं उनसे कैसे मिलूँगी, उनसे क्या कहूँगी, उन्हें किन शब्दों में समझाऊँगी? इन्हीं विचारों में डूबी हुई वह इब्राहीम अली के घर पर पहुँच गई।

मकान एक गली में था, साफ़-सुथरा, लेकिन द्वार पर हसरत बरस रही थी। उसने धड़कते हुए हृदय से अंदर कदम रखा। सामने बरामदे में एक खाट पर वह वृद्धा बैठी हुई थी, जिसके पति ने आज स्वाधीनता की वेदी पर अपना बलिदान दिया था। उसके सामने सादे कपड़े पहने एक युवक खड़ा, आँखों में आँसू भरे वृद्धा से बातें कर रहा था। मिट्ठन उस युवक को देखकर चौंक पड़ी – वह बीरबल सिंह थे।

उसने क्रोधमय आश्चर्य से पूछा – तुम यहाँ कैसे आए?

बीरबल सिंह ने कहा – उसी तरह जैसे तुम आईं। अपने अपराध क्षमा कराने आया हूँ।

मिट्ठन के गोरे मुखड़े पर आज गर्व, उल्लास और प्रेम की जो उज्ज्वल विभूति नज़र आई, वह अकथनीय थी! ऐसा जान पड़ा, मानो उसके जन्म-जन्मांतर के क्लेश मिट गए हैं। वह चिंता और माया के बंधनों से मुक्त हो गई है।

बोध-प्रश्न

1. मैकू ने किसे बड़े आदमी का दर्जा दिया और क्यों?
2. शहर से लोगों के आने की खबर सुनकर इब्राहीम ने तुरंत लौट चलने को क्यों कहा?
3. 'अबकी तुम इंस्पेक्टर हो जाओगे। सच!' मिट्ठनबाई के इस कथन में कौन-सा भाव छिपा है? बीरबल सिंह ने इस पर क्या स्पष्टीकरण दिया?
4. पठित अंश के आधार पर शहीद के मातम पर निकले जुलूस का आँखों देखा हाल सुनाइए।
5. इब्राहीम अली की वृद्धा विधवा के समक्ष बीरबल को देखकर मिट्ठनबाई की मनोदशा का चित्रण कीजिए।
6. नारी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी न केवल अपना मार्ग तय कर सकती है, वह परिवेश को बदल भी सकती है -- इस परिप्रेक्ष्य में मिट्ठनबाई का चरित्र-चित्रण कीजिए।

2. मुक्तिदाता

❑ आशापूर्णा देवी

"आदमी के ऊपर भरोसा करना सीखो, देबू, दुनिया में हर चीज़ अविश्वसनीय नहीं होती। शायद परिस्थितियों के दबाववश..."

सत्यव्रत अपने स्वभाव के अनुसार भारी और मद्धिम स्वर में बोले – "मैं कह रहा हूँ न, बच्चा है, अपराधी नहीं है। परिस्थिति के दबाववश..."

देवव्रत के स्वर में एक व्यंग्य उतर आया। उसके होठों के कोने में एक व्यंग्यात्मक हँसी उतर आई।

वह बोला – "अगर कोई बच्चा पक्के चोर की तरह पाइप के सहारे ऊपर चढ़कर घर में घुस आए, फिर भी!"

"वो तो मैं देख ही चुका हूँ कि वह आया है। लेकिन बात यह है कि...," बात क्या है, सत्यव्रत पूरा न कर सके। रसोईघर की तरफ़ से नीहारकणा आ गई। पिता-पुत्र की बातों का कुछ अंश उनके कानों में पड़ चुका था। तभी इस रंगमंच पर उनका आविर्भाव हुआ था।

नीहारकणा के हाथों में एक गीला गमछा था और वे उसे ही झाड़ते-झाड़ते चली आ रही थीं और वे उसे झाड़ते-झाड़ते ही बीच में बोल पड़ी थीं – "क्या बात है रे देबू? उस अभागे लड़के को पुलिस को न देकर वैसे ही छोड़ देना होगा?"

देवव्रत व्यंग्य और क्षोभ के स्वर में बोला – "अगर छोड़ देना होता तब तो फिर भी अच्छा था। उसे घर में रखना होगा और अपने अच्छे व्यवहारों से उसको बदलना होगा।"

नीहारकणा लगभग चिल्लाने जैसी आवाज़ में बोलीं – "और तुम सुने जा रहे हो? इनकी बात छोड़ो। इस मुँहझौंसे लड़के को थाने में दे आओ। क्या पता, इसी के सहारे किसी बड़े गैंग का पता चल जाए। नही, तुम चाय पीकर संतोष को साथ लेकर तुरंत निकल जाओ। हाथ का बंधन खोलने से पहले उसकी जेब टटोल लेना, कहीं कोई चाकू-फाकू न रखा हो!"

सत्यव्रत चौंक पड़े – "क्या! उसका हाथ बाँध रखा है?"

नीहारकणा तेज़ स्वर में बोली – "नहीं? हाथ खुला छोड़ देने पर पता नहीं क्या कर बैठे, कुछ पता है?"

सत्यव्रत एकदम धीमे स्वर में बोले – "उस कमरे में बाहर से ताला लगा दिया है कि नही?"

"वो तो लगा दिया था। क्या पता, ताला खुला छोड़ देने से वो चाकू-फाकू लेकर मारने को दौड़ पड़े। साँप पर विश्वास किया जा सकता है? जा, देबू! बहू चाय लेकर बैठी है। पीकर उस पाप को विदा कर आओ।"

देवव्रत माँ के इस ज़ोरदार निर्देश पर भी छूटते ही बोल पड़ा था – "जब तक घर के मालिक की आज्ञा नहीं होगी, तब तक यह कैसे संभव हो सकेगा?"

बोलकर चला गया था।

समस्या बहुत जटिल हो गई थी।

पिछली रात, लगभग आधी रात के आस-पास अचानक नीहारकणा की नींद खुली तो उन्हें महसूस हुआ कि खिड़की से ठंडी-ठंडी हवा आ रही है और बारिश होने वाली है। इसी के साथ उन्हें याद आया कि कल शाम को अचार का बरतन तो वे छत पर से लाई ही नहीं थीं। अगर कही पानी बरस गया तो सारा अचार चौपट हो जाएगा। तब फेंकने के सिवा और कोई रास्ता भी नहीं बचेगा। यही सोचते-सोचते नीहारकणा आलस त्यागकर बिछौने से उठकर छत पर आईं।

सीढ़ी के दरवाज़े में भीतर से सिटकिनी लगी थी। अचानक उन्होंने देखा कि कोई एक आदमी उसे फटाक से खोलकर निकला चला जा रहा है।

नीहारकणा इतनी डरपोक नहीं हैं जो वे भूत के बारे में सोचेंगी।

फटाक से उन्होंने छत पर की सामने की बत्ती का स्विच ऑन कर दिया और ज़ोर से बोली -- "कौन है रे? कौन है वहाँ?"

वहाँ जो भी था, जब उसकी कोई आवाज़ नही आई कि "मैं हूँ" तब उन्होंने रक्षार्थ चिल्लाना शुरू कर दिया – "चोर !चोर !"

अतएव आस-पास की खिड़कियाँ खुल गईं और लोग जग गए। शब्दों को लक्ष्य कर सभी लोग आश्चर्य से उसी घर की तरफ़ देखने लगे और अपनी-अपनी छतों पर चढ़ आए। सभी के हाथों में कुछ-न-कुछ हथियार था। मालिक की बहू और नौकर संतोष ने मिलकर उसे घेर लिया।

बेचारे चोर को भागने की कोई गुंजाइश नही रह गई। हाथों-हाथ पकड़ लिया गया।

बारह-तेरह साल का एक लड़का। फटी हुई एक सूती हाफ़ पैंट और पीठ पर फटी हुई एक बनियान पहने हुए।

संतोष ने उसका हाथ पकड़कर खींचते हुए रोशनी के सामने ले आकर खड़ा कर दिया। और, उसी समय सबको लगा कि यह चेहरा कुछ पहचाना-पहचाना-सा लग रहा है।

"तू कौन है?"

लड़के ने संतोष की वज्रमुट्ठी की पकड़ को छुड़ाने की कोशिश करते हुए कहा– "कोई नहीं।"

"कोई नहीं? बेटा, बदमाश, शैतान! बोल, कौन है तू?"

उससे कुछ नहीं बोला गया। तभी नीहारकणा की तेज़ और खोजी निगाह ने सवाल का जवाब तलाश लिया। उनकी तेज़ आवाज़ ने रात के आसमान को भी चीर डाला – "तुम पारुल के बेटे कन्हाई हो न?"

लड़का कुछ देर तक वैसे ही गरदन झुकाए हुए खड़ा रहा और हाथ छुड़ाने की कोशिश करते हुए अपना परिचय छिपाने की कोशिश भी करता रहा। "किसी पारुल को मैंने कभी नहीं देखा," बोला, फिर वह रो पड़ा – "हाथ तोड़ डालोगे क्या? मैं कह रहा हूँ न, छोड़ दो।"

सत्यव्रत बोले – "छोड़ दो, संतोष। उसकी हड्डी भी टूट सकती है।"

अंतत: संतोष ने छोड़ ही दिया।

लड़का हाथ पर फूँक मारकर सहलाते हुए बोला – "ओह !ऐसा मरोड़ दिया, जैसे स्क्रू टाइट कर दिया हो। उँगलियाँ तो खुल ही नहीं रही हैं।"

पारुल कभी इसी घर में बरतन माँजने आया करती थी। कन्हाई नाम के अपने ढाई-तीन साल क बच्चे को साथ लेकर काम करने आती थी एवं बच्चे के हाथ में बासी रोटी अथवा पावरोटी का टुकड़ा थमाकर काम में लग जाती थी। किंतु बच्चा रोना बंद नही करता था। सत्यव्रत अपने हाथ का अखबार नीचे रखते हुए बोलते- "ओ रे बाबा – ये कन्हाई तो चुप ही नहीं हो रहा! इसे कुछ और दो न, भाई।"

नीहारकणा गुस्से में बोलतीं – "आते ही दे दिया था।"

फिर भी मूढ़ी या बिस्कुट ले आकर दे जातीं। न देने से भी काम नहीं चलता। बच्चे के रोने से तंग आकर अगर काम अधूरा छोड़कर पारुल जाने को मजबूर हो तो? पारुल निहारकणा की बहुत प्यारी थी। जितना ही अच्छा काम करती थी उतना ही उसका नम्र व्यवहार था। काम में मन लगाती थी। कभी तबीयत भी नहीं खराब होती थी उसकी।

नीहारकणा बोलतीं – "तुम्हारा बेटा थोड़ा और बड़ा हो जाए, पारुल, तो मैं उसे स्कूल में भरती करा दूँगी, रोना-धोना कम कर देगा।"

बड़े होने पर उसका रोना-धोना कम हो गया। फिर भी स्कूल में भरती नहीं हो सका। स्कूल के नाम पर कन्हाई सैकड़ों मील दूर भागता। किंतु वही कन्हाई घरों में खोज-खोजकर कामों में हाथ बँटाता।

"ओह! दादू के जूतों पर इतनी धूल! घर में कोई ब्रश नहीं है?" वह ब्रश खोजकर ले आता और जूतों को झाड़कर साफ़ कर देता।

"ओह, सीढ़ियों पर पता नहीं किसने अखबार फैला रखा है?" और वह बैठे-बैठे सीढ़ियों पर बिखरे अखबार को इकट्ठा करके सीढ़ी की खिड़की पर रख देता।

बहुत फुरती से काम करता।

तो इस लड़के को कौन स्कूल भेजने जाए? यह तो अपने-आप नौकर का दर्जा पाता जा रहा था और तब तक संतोष इस घर में नहीं आया था। बहू भी नहीं आई थी। नीहारकणा को उसकी वजह से बहुत आराम मिलता था। अचानक जवानी में ही हैज़े के कारण पारुल की मृत्यु हो गई।

नीहारकणा माथे पर हाथ मारती हुई लोगों से कहती फिरतीं – "मैंने यह तो ज़रूर सुना था कि बरतन माँजनेवाली, कपड़े धोनेवाली छोड़कर चली गई है, लेकिन यह कहीं नहीं सुना था कि मर गई है। मन-ही-मन सोच रही थी कि इस बार का उसका महीना उसके घर भेज दूँगी।"

कन्हाई की माँ के मर जाने के बाद उसकी बुआ आकर उसे उठा ले गई। तब कन्हाई सात साल का था।

इतने दिनों बाद वही कन्हाई!

कठोर गठन वाला। प्रबल तार्किक चेहरा।

"चोर हो गया है, बदमाश कहीं का? और इसी घर में चोरी करने घुसा था? नमकहराम, पाजी।"

वह बदमाश यह प्रतिवाद कर रहा था कि वह चोरी करने की नीयत से नहीं घुसा था बल्कि...

"क्या बल्कि? बोल! बोल शैतान, क्या बल्कि?"

"उन सबों ने कहा कि तू इस घर की एक-एक चीज़ के बारे में जानता है, किसी भी तरह इस घर में घुसकर बीच का दरवाज़ा खोल दे, पाँच रुपए देंगे। ओह! बहुत सिखाया था। पैसा तो खाक मिलेगा, उलटा पकड़े ही गए।"

ऐसा नहीं कि इतनी बात बता देने से उसको मार पड़नी बंद हो जाएगी। और वह भी तब जबकि देवव्रत और संतोष दोनों वहाँ उपस्थित हों। बल्कि और ज़ोरदार-ज़ोरदार थप्पड़ पड़ने लगे और साथ ही पुलिस के हाथ में सौंप देने की धमकी भी मिल रही थी।

मार की अतिशयता सहन न कर पाने के बाद सत्यव्रत बोले – "अगर इस अभागे को यही 'फिनिश' कर दोगे तो फिर पुलिस को क्या दोगे? तुम्हें यह तो पता है न कि कानून को अपने हाथ में लेना अपराध है! पुलिस अगर उसके बदन पर मार के निशान देखेगी तो हम लोगों का भी चालान कर सकती है।"

पुलिस के डर से नहीं, बल्कि पिताजी के प्रतिवाद के कारण देबू ने उसे पीटना बंद कर दिया। संतोष भी पीछे हट गया। तभी नीहारकणा ने आज्ञा दी कि इस नमकहराम को सीढ़ी के नीचे कोयलेवाले कमरे में बंद करके ताला लगा दो। सुबह पुलिस को दे आना।

तभी कन्हाई ने प्रतिवाद किया – "पुलिस को क्यों? मैंने आपका कुछ चुराया तो नहीं है!"

इस समय सत्यव्रत बोले – "चोरी नही की है, लेकिन चोरों की सहायता तो की है! दरवाज़ा खोलने का मतलब क्या है? मतलब नहीं समझते? छिः, सिर्फ पाँच रुपए के लिए तुमने..."

कन्हाई के आक्रोश पर जैसे पानी पड़ गया। और उस पानी से कहीं ज़्यादा उसकी आँखों से पानी झरने लगा।

"सिर्फ़ पाँच रुपए। आहा! तीन दिन से कुछ खाया नहीं था, इसीलिए।"

"ओह! बातें तो बहुत ऊँची कर लेते हो। तुम्हारी उम्र तो काम करने की हो ही गई है, करते क्यों नहीं?"

कन्हाई अवज्ञा के स्वर मे बोला – "ओह, काम। जैसे मेरे लिए ही पूरे देश में काम फैला पड़ा है। कहीं दिलवा दो न काम। देखूँ ज़रा, कितनी ताकत है आप में!"

यह वाचालता और किसी को चाहे जैसी लगी हो लेकिन नीहारकणा की बहू को सहन नही हो पाई।

वह उस भीड़ को लक्ष्य करके अथवा शायद आत्मगत भाव से ही बोली – "इस मुक्तांगन में यह नाटक रात-भर ऐसे ही चलता रहेगा क्या? अब मेरा धैर्य जवाब दे रहा है। मैं सोने जा रही हूँ," और इतना कहकर जम्हाई लेती हुई वह नीचे उतर गई।

उसी क्षण नाटक का पटाक्षेप हुआ। देबू जल्दी-जल्दी संतोष के साथ उसे ले जाकर सीढ़ी के नीचे कोयलेवाले कमरे में बंद करके ताला लगा आया। उस कमरे में कभी कोयला रखा जाता था, इसलिए उस कमरे का नाम ही कोयलेवाला कमरा पड़ गया था।

उस कमरे में अब क्या है?

क्या नहीं है? कोयले के अलावा सब कुछ है अर्थात् घर के जितने भी फालतू सामान हैं, सब। हालाँकि वे सब सामान कभी काम नहीं आएँगे, फिर भी पता नही किस ज़माने से जान से लगाकर रखे गए हैं। इस कमरे में जो सबसे अधिक मात्रा में हैं वो हैं – तिलचट्टे।

सत्यव्रत एक बार दबे स्वर में बोले – "उस लड़के को उस कमरे में रातों-रात तिलचट्टे साफ़ कर जाएँगे।"

देवव्रत बोला – "तो ऐसा है कि आप ही ले जाकर उसे अपने कमरे में सुला लीजिए।"

सत्यव्रत फिर भी बेहया होकर (यद्यपि दबी आवाज़ में ही) नीहारकणा से आग्रह करते हुए बोले – "बोल रहा था कि तीन दिन से कुछ खाया नहीं है, घर में कुछ है नहीं?"

नीहारकणा भस्म कर देनेवाली नज़रों से देखते हुए बोलीं – "क्या? उसे इस समय रोटी बना के खिलानी पड़ेगी? बलिहारी जाऊँ! तीन दिन से खाया नहीं। उसकी बात पर विश्वास कर लिया तुमने? उसे खाने की कमी है?"

यह थी पिछली रात की कहानी।

और सुबह की कहानी यों है – सत्यव्रत ने अपने बेटे के सामने इच्छा प्रकट की कि कन्हाई को थाना-पुलिस के हाथों में मत दो। इसे पहले की ही तरह काम पर लगाकर देखना ठीक रहेगा।

देवव्रत एकदम से गुस्से में बोल पड़ा – "क्या देखेंगे? किसी दिन अपने गैंग को बुलाकर पूरा घर साफ़ करवा देगा कि नहीं?"

और संतोष ने झट से जवाब दिया – "उसको अगर रखेंगे तो मैं यह घर छोड़कर चला जाऊँगा, दादा बाबू। बाद में कुकर्म वो करेगा और लगेगा मुझको।"

फिर भी बिना किसी संकोच के सत्यव्रत बोले – "आदमी के ऊपर विश्वास करना सीखो, देबू। दुनिया में हर चीज़ अविश्वसनीय नही होती। शायद परिस्थितियों के दबाववश..."

और फिर बोले – "मैं कहता हूँ कि वो अभी बच्चा है, अपराधी नहीं है। उसे एक चांस दिया जाना चाहिए। शायद उसका जीवन सुधर जाए।"

नीहारकणा ने तो इस बात को एक पागल आदमी का प्रलाप कहकर उड़ा दिया था, किंतु देबू ने घोषणा कर दी थी कि जब तक घर के मालिक का हुक्म नहीं मिलता, वह कुछ भी नहीं कर सकता।

किंतु किसी ने यह सोचा तक नहीं था कि इस कठिन समय में भी सत्यव्रत इस तरह की दुःसाहसिक बात बोल जाएँगे। किंतु वे बोल गए। हलका-सा हँसते हुए बोले – "घर के मालिक का बदनाम उत्तरदायित्व निर्वाह करना ही पड़ेगा, एक बार ही सही, कुछ तो वसूल हो।"

"अर्थात्?"

"क्या मतलब?"

"इसका मतलब ये कि कन्हाई इसी घर में रहेगा।"

"ओ! लेकिन इसके बाद अगर..."

"अगर इस तरह के झंझट में दुबारा तुम लोग फँसते हो तो मुझे भी चोर, गुंडा करार देकर थाने में चालान करवा देना।"

नीहारकणा ने अनुभव किया कि वे एक इस्पात के दरवाज़े के सामने खड़ी हैं। अतएव अब वे कुछ नहीं कर सकतीं, उस दर्पहारी के सामने एकमात्र प्रार्थना करने के अलावा। कन्हाई रह गया।

उसके परिवार के लिए कुछ देना भी तय हो गया एवं सबके साथ उसे भी भर पेट चाय और पावरोटी खाने को दिया गया। उसके हड्डियों-भरे चेहरे पर परितृप्ति का भाव देखा गया।

पराजिता नीहारकणा ने दर्पहारी के सामने कितनी प्रार्थनाएँ करने के बाद संतोष को निर्देश दिया कि वह उसे अपनी आँखों के सामने ही रखे।

संतोष उदासीन स्वर में बोला – "मैं क्या उसे अपनी आँखों के सामने रखूँगा। मैं तो देख रहा हूँ कि वो तो बाबू की आँख की पुतली हो गया है। दिन भर 'कन्हाई-कन्हाई' आवाज़ सुनाई देती रहती है।"

"और मेरे कहने पर विश्वास नहीं होगा" – कन्हाई ने अभियोग के स्वर में कहा – "मेरी खाने की थाली नहीं है। तुमने फेंक दी है? क्या वो तुम्हें काट रही थी, दीदी माँ? लाओ, अब मुझे दूसरी थाली ढूँढ़कर दो। उस अपने कोयलेवाले कमरे में रखे टूटे-फूटे बरतनों में से छाँटकर दो। ठीक-ठीक काम लायक लाना।"

यही है कन्हाई की वाक्य-भंगिमा।

सत्यव्रत नाम का वह आत्मस्थ प्रौढ़ व्यक्ति क्या उसकी इसी वाक्य-भंगिमा पर आकृष्ट हुआ है? या यह उसकी परीक्षण-निरीक्षण की कोई शैली है?

क्या इतने समय में जल्दी से पहचान जाने का दु:साहस उनमें नही है? और इधर नीहारकणा तो अपने दर्पहारी की क्षमता देखकर उल्लसित हो रही हैं। पीछे-पीछे बेटे-बहू मज़ाक उड़ाते हैं। और, वह बदमाश संतोष का बच्चा तो सामने ही दाँत बाहर निकालकर बोलता है –

"कच्चे खीरे खाने के लिए अभी आपको बहुत इंतज़ार करना पड़ेगा, मौसा। आपको अभी खीरा बोना पड़ेगा, फिर पानी देना पड़ेगा और पौधे को बढ़ाने के लिए मचान बाँधना पड़ेगा। तब इसके बाद कच्चे खीरे खाने को मिलेंगे।"

हाँ। बात कुछ कच्चे खीरे की-सी ही है। तीन-चार दिन बाद ही कन्हाई को बुलाकर सत्यव्रत ने पूछा – "तुमने खीरा देखा है, कन्हाई? कच्चा है कि पका, तुम पहचान सकते हो?"

"ओ माँ! लो सुन लो बात। पहचान क्यों नहीं पाऊँगा? अगर कच्चा होगा तो नाखून से दबाने पर उसमें से दूध निकलेगा और पका होगा तो नहीं निकलेगा।"

"अच्छा-अच्छा, ठीक है। मैं समझ गया कि तुम पहचान जाओगे। जादवपुर बाज़ार तो देखा है न?"

"सुन लो बात। वहीं तो जम्मो-कम्मो को बुलाने गया था।"

"ठीक है। देर तो नहीं लगाओगे?"

"बिलकुल नहीं। यूँ जाऊँगा और यूँ आऊँगा। लाओ, पैसा लाओ।"

सत्यव्रत ने उसके उत्फुल्ल चेहरे की तरफ़ देखते हुए बीस का नोट आगे बढ़ा दिया।

कन्हाई थोड़ी देर ठिठककर बोला– "अरे बापरे! ये तो बहुत सारे रुपए हैं। इतने खीरे कौन खाएगा, दादू?"

"धत्, मूर्ख-कहीं का। पूरे पैसे का थोड़े न ले आना है। पाँच रुपए का लेना। बाकी हिसाब करके वापस लेते आओगे न?"

"क्यों नहीं लाऊँगा। पहले दुकानदार से बाएँ हाथ में पंद्रह रुपए ले लूँगा, तब दाहिने हाथ से उसे यह नोट दूँगा।"

"कहीं दुकानदार तुम्हें बच्चा समझकर ठग तो नहीं लेगा?"

"इस्स। ठगाने के लिए मैं ही बचा हूँ?"

वह तेज़ी से बाहर निकल गया और तुरंत ही वापस आकर खड़ा हो गया – "दादू, ज़रा एक मज़बूत थैली हो तो दे दो न, दुकानदार बहुत कमज़ोर थैली देते हैं। आधे रास्ते में ही फट जाती हैं।"

सत्यव्रत बोले- 'मैं कहाँ से थैली लाऊँगा?'

इसके बाद उन्होंने एक विदेशी मैगज़ीन के मोटे ब्राउन पेपर की थैली कन्हाई के हाथों में पकड़ा दी।

दूसरे ही पल कन्हाई हवा हो गया।

यह नाटकीय दृश्य नीहारकणा से छिपा न रह सका। वे उसे देख ही रही थी। लड़के के बाहर निकलते ही वे बहुत शांत स्वर में बोलीं- 'अचानक कच्चा खीरा खाने की इतनी इच्छा कैसे जाग गई?'

सत्यव्रत हँसते हुए बोले – "ऐसे ही। मन में आया कि मूढ़ी के साथ खीरा खाया जाए।"

"इसीलिए पाँच रुपए का खीरा..."

"ओहो! मैं क्या अकेले खाऊँगा? सभी खाएँगे। पाँच रुपए का बहुत तो मिलेगा नहीं!"

नीहारकणा अग्राह्य स्वर में बोलीं – "सबके खाने की अगर बात थी तो संतोष भी तो ले आ सकता था!"

"हाँ, सकता क्यों नहीं था? मैंने सोचा, लड़के को थोड़ी-सी तालीम देने की भी तो ज़रूरत है!"

"हॉ, तो उसके लिए पाँच रुपए का नोट नहीं था?"

"मेरे पास नहीं था।"

"ठीक है। देखते रहना, दो ठो खीरा ले आकर रख देगा और बोलेगा कि दुकानदार ने बाकी पैसे वापस ही नहीं किए।"

बस। वह गया तो वापस ही नहीं लौटा। सुबह बीत गई, शाम बीत गई, रात बीत गई, न तो खीरे लौटे, न तो कन्हाई।

इस बीच संतोष दो-तीन बार जादवपुर बाज़ार में देख आया। पूरा बाज़ार ढूँढ़ मारा। और वह खुशीपूर्वक बूढ़े की तरफ़ उँगलियाँ दिखाते हुए बोला – "अरे मौसी मॉ, मुझे तो कन्हाई बाबू कही भी नहीं दिखे।"

इस डेढ़ दिन में सत्यव्रत अपने घर में हँसी का पात्र बनकर रह गए।

किंतु सत्यव्रत ने उन बातों का बुरा नही माना। उन्होंने सोचा कि इतनी बड़ी हार होनी थी उनकी! एक विश्वासघात हुआ है उनके साथ। यह तो मानना ही पड़ेगा कि सत्यव्रत ने एक बहुत बड़ी भूल की है।

बड़ी हैरानी की बात है। बीस रुपए के सामान्य-से लालच में एक आश्रय और एक निश्चित भोजन का ठिकाना, सब कुछ गॅवा बैठा! इसे क्या मूर्ख कहेंगे या अपराधी? या इसकी समूची जाति को ही अपराधी कहेंगे।

सत्यव्रत भीतर से बहुत टूट गए थे। जब देबू भी पिता की तरफ देखकर विद्रूप हँसी हॅसता तो वे और भी कुंठित हो उठते। नीहारकणा बार-बार बोलतीं – "आखिर देख लिया न मुँहझौंसे को? तुम्हारे बीस रुपए कितने दिन चलेंगे! आँय! मौज करके खाता था। नखरे के साथ रहता था।"

कन्हाई की कहानी यहीं समाप्त हो सकती थी। किंतु यह तो कुछ नया नहीं है। ऐसी घटनाएँ तो बहुत होती रहती हैं।

किंतु वह मोटे ब्राउन पेपर का लिफ़ाफ़ा कहानी को दूसरे पृष्ठ पर उतार लाया, शायद इसे ही कहते हैं 'संयोग'।

गाड़ी के नीचे आ गए एक असहाय बच्चे को मानवतावश जिन लोगों ने रास्ते से उठाकर अस्पताल पहुँचाया था, उन लोगों ने यह भी काम किया कि बच्चे की छाती से चिपके लिफ़ाफ़े और धूल में पड़े चार खीरों को भी उठाकर उसके साथ ही अस्पताल में जमा करा दिया था।

फिर अस्पताल के कर्मचारियों में इतनी एनर्जी थी कि उस लिफ़ाफ़े के पते से सत्यव्रत सेन का घर ढूँढ़कर उनको ये सूचित कर दिया कि 'अगर आप इस बच्चे को देखना चाहते हैं तो जल्दी आ जाइए। अब यह बहुत देर तक ज़िंदा नहीं रह पाएगा।'

यह सब संयोग नहीं तो और क्या है!

बहुत कम समय रह गया था।

सत्यव्रत कातर भाव से बोले– "तुम जादवपुर बाज़ार न जाकर 'ठाकुर' कैसे चले गए, कन्हाई?"

कन्हाई पीड़ा में ही बोला – "वहाँ कच्चे खीरे नहीं थे, दादू। तो एक लारी पाजी..."

सत्यव्रत अपना माथा पकड़कर बैठ गए। निःश्वास छोड़ते हुए।

जब वह वेदना से तड़फड़ाने लगता तब भी सत्यव्रत के चेहरे पर एक प्रशांति की स्पष्ट चमक दिखाई देती थी। शायद यह चमक कृतज्ञता की थी। शायद उस लड़के के ऊपर किए गए विश्वास की।

बोध-प्रश्न

1. कन्हाई सारे परिवार का कोपभाजन क्यों हो गया था?
2. माँ के ज़ोरदार निर्देश पर भी देवव्रत ने कन्हाई को घर से क्यो नहीं निकाला?
3. कन्हाई के किन-किन गुणों से सत्यव्रत उसकी ओर आकृष्ट हुए?
4. सत्यव्रत अपने ही घर में हँसी का पात्र क्यों बन गए?
5. अस्पताल के अधिकारी बालक की दुर्घटना की खबर सत्यव्रत तक पहुँचाने में कैसे सफल हुए?
6. कन्हाई के प्रति नीहारकणा के रूखे व्यवहार के पीछे परिवार के प्रति उसके उत्तरदायित्व की भावना भी एक कारण हो सकती है— इस दृष्टि से नीहारकणा का चरित्र-चित्रण कीजिए।
7. 'अविश्वास भरे वातावरण में भी मानवता जीवित है'— इस कथन के परिप्रेक्ष्य में कहानी के संदेश को स्पष्ट कीजिए।

3. मास्को से आँखों देखा हाल

❑ जसदेव सिंह

सन 1980 मे 19 जुलाई से 3 अगस्त तक तत्कालीन सोवियत संघ की राजधानी मास्को में आयोजित बाईसवें ओलंपिक खेलों की 'कवरेज' के लिए जाने के आदेश जब मुझे मिले, मैं रोमांचित था। मास्को तब उस देश की राजधानी था, जिसे सारी दुनिया 'आइरन कर्टेन' (लोहे के आवरण) से ढका देश मानती थी। इस बार भी सूचना और प्रसारण मंत्रालय ने दो और कमेंटेटरों के नाम जोड़ दिए थे। अर्थात् चार कमेंटेटरों का दल था हमारा – दो हिंदी और दो अंग्रेज़ी। 1976 में मांट्रियल खेलों के लिए पाँच कमेंटेटर भेजे गए थे, जबकि उसका कोई विशेष लाभ नहीं था। कमेंटेटरों की संख्या बढ़ाए जाने के बावज़ूद 'कवरेज' उतनी ही रहती थी, जितनी 1964 से 1972 तक दो कमेंटेटर कर दिया करते थे – वही प्रतिदिन आधे घंटे की एक रिपोर्ट, जिसमें कुछ खेलों, विशेषकर जिनमें भारतीय खिलाड़ी भाग लेते थे और उनके पराजित हो बाहर हो जाने की स्थिति में फिर जो महत्त्वपूर्ण स्पर्धाएँ बचती थीं, उनके आँखों देखे विवरण के अंश और जहाँ-जहाँ संभव होता था, कुछ छोटी-छोटी भेंटवार्ताएँ सम्मिलित की जाती थीं। 1972 के म्यूनिख ओलंपिक्स से हॉकी के उन तमाम 'पूल' मैचों की कमेंट्री, जिनमें भारतीय हॉकी टीम खेलती थी, और दोनों सेमी-फ़ाइनल और फ़ाइनल (भले ही उनमें भारतीय टीम हो या न हो), की कमेंट्री सीधे प्रसारित की जाने लगी थी। हॉकी कमेंट्री के सीधे प्रसारण से व्यक्तिगत रूप से मुझे अवश्य ही लोकप्रियता मिली। कारण शायद यही कि मैदान में गेंद कहाँ है, किस टीम के पाले में है, कब किस खिलाड़ी से किस खिलाड़ी को मिली आदि के साथ-साथ जिस नगर में खेल हो रहा होता है, मैं बीच-बीच में अवसर मिलने पर उस नगर

या देश की खेल परंपराओं, नामी खिलाड़ियों, इतिहास, विख्यात इमारतों, मौसम, रीति-रिवाज आदि की जानकारी भी दे दिया करता हूँ।

1972 में म्यूनिख ओलंपिक 'कवर' करने के बाद दिल्ली लौटने पर एक भेंट के दौरान मेरा परिचय मिलने पर अपने दूतावास में कार्यरत एक जर्मन महिला श्रीमती बासाक ने समस्त औपचारिकताओं को परे रख सीधे ही मुझसे आदेशात्मक स्वर में कहा था, 'ओपन योर माउथ' (अपना मुँह खोलो)। मुझे बड़ा अजीब लगा, बुरा भी। वहाँ कुछ जर्मन और भारतीय भी खड़े थे। मेरे दिमाग में एक बात आई, 'कहीं मेरे मुँह से बदबू तो नहीं आ रही थी?' इतने में फिर उस महिला ने ज़िद पकड़ ली, 'ओपन योर माउथ। आई वाँट टु सी इट'। मुझे थोड़ा गुस्सा भी आ रहा था। तभी पास ही खड़े जर्मन दूतावास के पुस्तकालय के एक भारतीय अधिकारी जगदीश प्रसाद ने हिंदी में कहा, 'जसदेव जी, मुँह खोल दीजिए, देखें तो क्या चाहती है?' मैंने पूरा मुँह खोल दिया। मेरे और निकट आकर उस महिला ने मेरे मुँह में झाँकते हुए जो कुछ कहा, उसे सुन सारा स्थल उपस्थित लोगों के कहकहों से गूँज उठा। महिला के शब्द थे, 'हाउ यू स्पोक सो फास्ट, नो मोटर इन योर माउथ'। आखिर बात खुली। उन दिनों देश में टी.वी. तो था नही। महिला सहित दूतावास के सभी जर्मन कर्मचारी आकाशवाणी से हॉकी की हिंदी-अंग्रेज़ी कमेंट्री सुना करते थे। जर्मनी उस बार चैंपियन रहा था। उस महिला को हिंदी तो समझ में आती नहीं थी, पर मेरी कमेंट्री की गति से वह आश्चर्यचकित अवश्य थी।

बात मास्को ओलंपिक्स से शुरू हुई थी। औरों की तरह मुझे भी उस देश को देखने और जानने की उत्सुकता थी। सोवियत संघ से तब भी और अब उसके विघटन के बाद भी, अलग-अलग बँटे उसके देशों से हमारे संबंध बराबर मधुर और मैत्रीपूर्ण बने हुए हैं। उन दिनों सोवियत संघ में कौन मित्र है, कौन नहीं, वहाँ के लोग ही आपस में नहीं जान पाते थे, तो हम तो विदेशी थे। मास्को हवाई अड्डे पर ही जिस तरह के अनुभव हुए, उसी से उस देश की सुरक्षा व्यवस्था का ज्ञान हो गया था। भारतीय दूतावास में कार्यरत अपने कुछ मित्रों के लिए मैं चाय, राजमा और कुछ दालें आदि ऐसी चीज़ें ले गया था, जो उन दिनों वहाँ नहीं मिलती

थीं। हवाई अड्डे के अधिकारियों ने सिवाय डिब्बाबंद चाय के सभी चीज़ें रोक ली। आश्वासन दिया कि निरीक्षण के बाद मुझे मेरे होटल में वापस भेज देंगे, पर वैसा नहीं हुआ। अन्य कुछ खिलाड़ी भी ऐसा कुछ खाने का सामान दालें आदि ले गए थे, वह सब हवाई अड्डे पर ही रोक लिया गया।

सोवियत संघ ने उन दिनों वहाँ आनेवाले खेल प्रेमियों और पर्यटकों के लिए अपने नियमों में काफ़ी नरमी कर दी थी। रेडियो मास्को ने अपने घरेलू प्रसारणों में अंग्रेज़ी समाचार और कार्यक्रमों की संख्या बढ़ा दी थी। उन दिनों ज़मीन के नीचे चलनेवाली मैट्रो रेलगाड़ियों में रूसी भाषा के साथ-साथ स्टेशनों के नामों की घोषणा अंग्रेज़ी में भी की जाने लगी थी। हालत यह थी कि विभिन्न खेलों के प्रारंभिक मुकाबलों को देखने के लिए सभी स्टेडियम दर्शकों से पूरी तरह भरे रहते थे। हाँ, सुरक्षा व्यवस्था बहुत ही कड़ी कर दी गई थी – साधारणतः जैसी होती थी उससे भी बहुत अधिक। शायद ऐसा इस आशंका से भी किया जा रहा था कि बहिष्कार करने वाले देशों में से कोई उन खेलों को भंग करने के लिए कोई ऐसी-वैसी कार्यवाही न कर दे। हमें लगभग हर दिन ही कड़ी सुरक्षा व्यवस्था का सामना करना होता था। कभी-कभी जब हम भारतीय पत्रकार अपना पीछा करते किसी को देखते या अपनी तलाशी के समय सोवियत संघ के सर्वोच्च सुरक्षा विभाग के.जी.बी. की चर्चा एक-दूसरे से करते तो बजाय के.जी.बी. कहने के, उसका उल्लेख 'कृष्ण-गोविंद-बलदेव' कहकर किया करते थे। ऐसा इसलिए कि हमें बता दिया गया था कि सुरक्षा व्यवस्था में लगे अनेक लोग हिंदी जानते थे। इसका अनुभव मुझे भी हुआ। यदि हम अपने होटल से दो मिनट के लिए भी बाहर जाते, तो वापसी पर फिर सुरक्षा जाँच की पूरी 'क़वायद' दोहराई जाती। उस दिन तो अति हो गई। रात को रेडियो मास्को के उर्दू विभाग में कार्यरत एक भारतीय मित्र जसवंत सिंह के यहाँ भोजन पर जाना था। वह मुझे लिवाने आया था और होटल से बाहर जानेवाले दरवाज़े के ठीक सामने मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। अभी मैंने होटल के दरवाज़े से एक पाँव ही बाहर रखा था – एक अभी भी अंदर था कि याद आया, कमरे से जसवंत के लिए लाई गई भेंट का पैकेट तो ऊपर 24वीं मंजिल पर अपने कमरे में ही भूल आया। उसे वहीं द्वार

पर पाँच-सात मिनट इंतज़ार करने को कहकर मैं उलटे पाँव वापस घूमा, तभी वहाँ नियुक्त सुरक्षा अधिकारियों में से एक ने हाथ आड़े लगा 'नीष्त-नीष्त' (नहीं-नहीं) कहकर मुझे इशारे से रूसी भाषा में बोलते हुए समझाया कि अब मुझे 'प्रवेश' द्‌वार से अंदर आना होगा। प्रवेश द्‌वार काफ़ी घूमकर था। यही नहीं, मुझे पता था कि वहाँ अंदर आनेवालों की लंबी कतार लगी होगी। होटल हो या ब्रॉडकास्ट सेंटर (जहाँ हम अपनी रिपोर्ट तैयार कर दिल्ली को टेलीफ़ोन लाइनों पर देते थे), हर प्रवेश करनेवाले की सुरक्षा जाँच करने में कम-से-कम तीन-तीन, चार-चार मिनट तो लगते ही थे। शारीरिक जॉच तो तुरंत हो जाती थी, पर झोलों, ब्रीफ़केसों आदि की एक्स-रे जाँच के बाद भी उनमें से एक-एक चीज़, एक-एक कागज़ निकालकर देखा जाता था। कैमरे, टेप रिकॉर्डर और उनके उपकरणों की जाँच बड़ी बारीकी से की जाती थी। यह कसरत प्रवेश के समय हर बार दोहराई जाती थी। मेरे पास उस समय कुछ नहीं था इसलिए भी मैं उस कसरत से बचना चाह रहा था। जसवंत सिंह ने भी रूसी भाषा में उन्हें समझाने की बहुत कोशिश की पर जवाब में वही दो शब्द 'नीष्त-नीष्त'। मजबूरी में और कोई चारा भी नहीं था।

'अजीब लोग हैं, इतनी भी क्या सख़्ती, रोज़ तो मुझे देखते हैं, पहचानते हैं। फिर एक पाँव तो अभी अंदर ही था, वैसे 'रूसी-हिंदी भाई-भाई' की बात करते हैं,' बड़बड़ाते हुए मैं प्रवेश द्‌वार पर गया। मेरे स्वर में थोड़ी कड़वाहट तो थी ही। यूँ मेरी बात समझने वाला वहाँ जसवंत के अलावा और कोई था भी नही, लेकिन यह मेरा मुगालता था। चार-पॉच दिन बाद अपने होटल के प्रवेश द्‌वार पर जब मैं पंक्ति में खड़ा अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहा था, एक सुरक्षा अधिकारी मेरे पास आया और बहुत ही सुंदर संस्कृत-निष्ठ हिंदी में बोला, 'सिंह जी, उस दिन आप बहुत रुष्ट हो गए थे।' मैं उसे पहचान गया। जसवंत के घर जाते समय जो तीन-चार सुरक्षा अधिकारी चुपचाप एक ओर खड़े थे, यह उन्ही में से एक था -- शायद उन सबका अफ़सर था। उसकी हिंदी सुनकर मैं पानी-पानी हो गया। वह कहे जा रहा था, "यह सब आप अतिथियों की सुरक्षा के लिए है। हम तो उसी के लिए अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं।" मैं केवल यही बोल पाया, "आप हिंदी जानते हैं?" उसका विनम्र उत्तर था, "बस, थोरी-थोरी!"

बाद में ज्ञात हुआ कि सोवियत सुरक्षाकर्मियों में विश्व की विभिन्न भाषाएँ जानने वाले लोग थे। साथ ही उन्हें लगातार एक स्थान पर नही रखा जाता था। बदल-बदलकर हवाई अड्डे, अन्य होटलों, ब्रॉडकास्ट सेंटर आदि में तैनात किया जाता था। हाँ, उस दिन से मैंने एक शिक्षा अवश्य ले ली। सुरक्षा नियमों का सदा पालन करना चाहिए।

अपने देश में भी हवाई अड्डे या विभिन्न समारोहों के दौरान कभी-कभार यदि कोई सुरक्षाकर्मी मुझे पहचानकर मेरी जॉच नहीं करना चाहता और कह देता है, 'आपको तो जानते ही हैं', मैं उससे विनम्रता से अनुरोध कर अपनी सुरक्षा जॉच अवश्य करवाता हूँ। मेरी समझ में यह हर नागरिक का कर्तव्य है कि अपने पद या लोकप्रियता के बल पर सुरक्षा जाँच से न बचे।

सुरक्षा और अनुशासन के मामले में मास्को ओलंपिक्स में मेरा एक और अनुभव हुआ। एक दिन हम लोगों के पास सवेरे ही खेल प्रतियोगिताओं से संबंधित काफी सामग्री इकट्ठा हो गई थी। मैंने सोचा इसे पहले से ही संपादित करके रख लिया जाए। दोपहर बाद एकत्र की जाने वाली सामग्री बाद में संपादित करके पूरी रिपोर्ट थोड़ा जल्दी बना लेंगे। मैंने अपने दुभाषिये सर्गे और नताशा (यों यह रूस में हर तीसरे पुरुष और महिला के नाम से जुड़े होते हैं) से अनुरोध कर दिया कि उस दिन वह दोपहर से पहले हमारा स्टूडियो खुलवा दें, जिससे हम काम थोड़ा जल्दी निपटा दें। स्टूडियो तो खुलवा दिया गया लेकिन अगले ही दिन उन दोनों को बदल भी दिया गया। एक दिन संयोग से सर्गे मिला, तो धीमे से बता गया कि नियत समय से पहले स्टूडियो खुलवाने को कर्तव्य के प्रति कोताही माना गया था। हमारा अपना अनुमान था कि नियत समय से पहले स्टूडियो खुलवाना कोताही से ज़्यादा, सुरक्षा नियमों को तोड़ना माना गया था क्योंकि उस दिन अनेक रेडियो अधिकारी हमसे बार-बार पूछते रहे थे कि स्टूडियो नियत समय से पहले क्यों खुलवाया गया।

मास्को ओलंपिक्स के चार वर्ष बाद 1984 में मुझे एक बार फिर सोवियत संघ जाने का अवसर मिला था। दूसरी बार मैं भारत-सोवियत संघ अंतरिक्ष उड़ान की कवरेज के लिए गया था। दोनों ही दफ़ा मुझे उस देश की कड़ी सुरक्षा व्यवस्था के कई अनुभव हुए लेकिन

जो बात अच्छी लगी, वह थी भारतीयों के प्रति उस देश के लोगों का प्यार। भारतीय नेताओं के प्रति सम्मान-भावना तो देखने को मिली ही, पर भारतीय सिनेमा के साथ-साथ कुछ जाने-माने फ़िल्म कलाकारों और संगीत ने जिस तरह से उन्हें मोह लिया था, उसे देख कर तो असीम आश्चर्य होता था।

मेरे साफ़े से ही लोग पहचान जाते थे कि मैं भारतीय हूँ। कई बार ऐसा हुआ कि सामने से आ रहा व्यक्ति मेरे पास पहुँचकर कुछ क्षण रुक जाता, मुसकराता और हाथ जोड़कर बोलता, 'नमस्ते'। किसी भारतीय से अभिवादन का एक और निराला तरीका भी देखा वहाँ। पास से निकले, देखा और धीमे से 'ओह' कहकर महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, इंदिरा गांधी आदि सभी या इनमें से दो-तीन का नाम बोलते हुए निकल गए। कई लोग तो राजकपूर, नर्गिस आदि अभिनेताओं का नाम भी जपने लगते। कुछ थे जो हमें देखते ही तान छेड़ देते, 'आवारा हूँ, आवारा हूँ', या 'मेरा जूता है जापानी, यह पतलून इंगलिस्तानी, सिर पे लाल टोपी रूसी, फिर भी दिल है हिंदुस्तानी', और जब आश्चर्यचकित हो हम उनका चेहरा ताकने लगते तो वे खिल-खिलाकर हँस देते। बहुत खुश होते। कुछ तो पूछ भी लेते, 'टीक है, आच्छा है।' ज़ाहिर है, हिंदी फिल्मों से यह दो-चार शब्द उन्होंने सीख लिए होंगे।

अन्य भारतीय साथियों की तरह मुझे भी यह सब सुनना बहुत अच्छा लगता। यही नही, यूँ महसूस होता जैसे उस दूर देश में मेरे वतन की सौंधी-सौंधी मिट्टी की सुगंध महक रही हो। उस ज़माने में सोवियत संघ में कड़ी जासूसी, सुरक्षा व्यवस्था, अनुशासन और विदेशी तो विदेशी, अपने ही देशवासियों पर शक करने की प्रवृत्ति के बावजूद वहाँ के आम लोगों का भारत के प्रति यह स्नेहभाव बहुत निष्कपट और निश्छल होता था।

सोवियत लोगों की भारत में इस दिलचस्पी की जानकारी मैं कभी-कभी अपनी कमेंट्री के दौरान भी दे दिया करता था। हमारे हॉकी मैचों के मध्यांतर में भारतीय फ़िल्मों के लोकप्रिय गीत बजाए जाते थे। एक दिन तो जब लाउडस्पीकर पर एक फिल्मी गाना 'झूठ बोले कव्वा काटे' बज रहा था, मैंने अपनी कमेंट्री के दौरान यह गाना भी हज़ारों मील दूर बैठे अपने

श्रोताओं को सुनवा दिया था — यह बताने को कि हमारे देश का संगीत विशेषकर कुछ फ़िल्मी गाने सोवियत संघ में कितने लोकप्रिय हैं।

बोध-प्रश्न

1. आप कैसे कह सकते है कि पाठ का 'आँखों देखा हाल' उस 'आँखों देखा हाल' से भिन्न है जिसके लिए जसदेव सिंह प्रसिद्ध थे।
2. हॉकी के ऑखों देखा हाल के प्रसारण में जसदेव को लोकप्रियता मिलने के क्या कारण थे?
3. म्यूनिख ओलंपिक के दौरान जर्मन महिला सबके सामने जसदेव को मुँह खोलने का आदेश क्यों दे रही थी?
4. सुरक्षा व्यवस्था में कड़ाई बरते जाने का क्या कारण था? लेखक ने इससे क्या सीख ली?
5. भारतीय जनों के प्रति सोवियत जनता का कैसा व्यवहार रहता था? वे इसे कैसे प्रदर्शित करते थे?

4. लघु कथाएँ

क. रिश्ता

❑ चित्रा मुद्गल

लगभग बाईस दिनों तक 'कोमा' में रहने के बाद जब उसे होश आया था तो जिस जीवनदायिनी को उसने अपने करीब, बहुत निकट पाया था, वे थीं, मारथा मम्मी। अस्पताल के अन्य मरीज़ों के लिए सिस्टर मारथा। वह पुणे जा रहा था ... खंडाला घाट की चढ़ाई पर अचानक वह दुर्घटनाग्रस्त हो गया। ज़ख्मी अवस्था में नौ घंटे तक पड़े रहने के बाद एक यात्री ने अपनी गाड़ी से उसे सुसान अस्पताल में दाखिल करवाया ... पूरे चार महीने बाद वह अस्पताल से डिस्चार्ज किया गया। चलते समय वह मारथा मम्मी से लिपटकर बच्चे की तरह रोया। उन्होंने उसके माथे पर ममत्व के सैकड़ों चुंबन टाँक दिए – 'गॉड ब्लेस यू माय चाइल्ड..।' डॉ. कोठारी से उसने कहा भी था, "डॉक्टर साहब! आज अगर इस अस्पताल से मैं ज़िंदा लौट रहा हूँ तो आपकी दवाइयों और इंजक्शनों के बल पर नहीं, मारथा मम्मी के प्यार के बल पर।"

उस रोज़ वे उसे गेट तक छोड़ने आई थी और जब तक उसकी गाड़ी अस्पताल के गेट से बाहर नहीं हो गई, वे अपलक खड़ी विदाई में हाथ हिलाती रही थी ...

वही मारथा मम्मी ... आज जब अरसे बाद वह उनसे वार्ड में मिलने पहुँचा तो उन्हें देखकर खुशी से पगला उठा। वे एक मरीज़ के पलंग से सटी उसकी कलाई थामे धड़कनों का अंदाज़ा लगा रही थीं। उन्होंने मरीज़ की कलाई हौले से बिस्तर पर टिकाई कि उसने उन्हें अचानक पीछे से बाजुओं में उठा लिया।

"अरे, अरे, क्या करता है तुम ... इडियट ... छोड़ो मेरे को! ये अस्पताल है ना।"

वह सकपका उठा। उन्हें फ़र्श पर खड़ा करते हुए उसने अचरज से मारथा मम्मी को देखा, "मैं आपका बेटा अशोक, मम्मी पहचाना नहीं आपने मुझे ...!"

"पेचाना, पेचाना... पन अभी मेरे को टाइम नई ... डियूटी पर ऐसा नई आने का मिलने कू। अब्बी जाओ तुम ... देखता नई पेशेंट कितना तकलीफ़ में हय ..." उन्होंने उसे तिक्त स्वर में झिड़का।

वह उनके अनपेक्षित व्यवहार से स्तब्ध हो उठा, तिलमिलाया-खिसियाया-सा फ़ौरन मुड़ने लगा कि तभी उसी मरीज़ की प्राणवेला कराह सुनकर क्षणांश को ठिठक गया। मरीज़ के पपड़ियाए होंठ पीड़ा से बिलबिलाते बुदबुदा रहे थे, "माँ... ओ... माँ...हा...आ..."

"माय चाइल्ड ऑय अंम विद यू। हैव पेशन्स ... हैव पेशन्स ..." उसकी मारथा मम्मी अत्यंत स्नेहिल स्वर में उस मरीज़ का सीना सहला रही थीं।

वह मुड़ा और तेज़ी से वार्ड से बाहर हो गया।

ख. खबर, जो छप न सकी ❑❑

❑ ज्ञान प्रकाश विवेक

नगर में कर्फ़्यू लगा था। सन्नाटा ऐसा था जैसे किसी कब्रिस्तान से उठाकर रख गया हो कोई। सड़कों और गलियों में गश्त करती पुलिस के अतिरिक्त और कोई न था। यह सब हिंदू-मुस्लिम फ़साद के कारण हुआ था।

नगर की एक गली में मकान की ऊपरी मंज़िल की खिड़की खुली। एक दबी-सी आवाज़ उभरी – "ऐ हामिदा! हामिदा की बच्ची! सुन!"

दूसरे मकान की खिड़की खुली – "क्या है री निर्मला!"

"क्या कर रही है हामिदा?"

"नोट्स तैयार कर रही हूँ।"

"अच्छा, यह बता, आज तूने क्या बनाया है?"

"बनाया है तेरा सिर। बिरयानी है। भेज दूँ?"

"हाँ।"

"तूने क्या बनाया है री?"

"काबली और पूरियाँ। मैं राजू के हाथ भेज रही हूँ। उसी के हाथ तू बिरयानी भेज देना।"

"नहीं, तू राजू को मत भेज। मैं असगर को भेजती हूँ। राजू को गली में किसी ने नुकसान पहुँचाया तो?"

"और असगर को रास्ते में किसी ने चोट पहुँचाई तो क्या अच्छा होगा?"

"बक मत! राजू को तू मत भेज। वह छोटा है और फिर मैं उसे अपना भाई भी तो मानती हूँ!"

"तो क्या असगर को मैं राखी नही बाँधती?"

राजू अपने घर से निकला, असगर अपने घर से। दोनों गली में मिले। गले लगे।

अगले दिन अखबार में खबर छपी – "नगर में स्थिति काबू में है किंतु तनाव बना हुआ है।"

काश! कोई अखबार इस गली में पनप रही मुहब्बत की खबर भी प्रकाशित करता।

❑❑

ग. अच्छा कौन

❑ चितरंजन 'भारती'

एक ट्रेन में चार यात्री यात्रा कर रहे थे। उनमें एक बंगाली, एक तमिल, एक एंग्लो-इंडियन तथा एक हिंदी भाषी था। वे लोग अपनी-अपनी भाषा पर बात कर रहे थे।

बंगाली महोदय बोले, "बांग्ला सबसे मीठी भाषा है। इसने भारतीय साहित्य को अत्यंत उच्चकोटि के साहित्य से समृद्ध किया है।"

तमिल-भाषी महोदय बोले, "तमिल भाषा बहुत प्राचीन है। इसका साहित्य बहुत उच्चकोटि का है। इसका प्रादुर्भाव तब हुआ था, जब आर्य-भाषा निम्न स्तर में थी।"

एंग्लो-इंडियन महोदय भला कैसे चुप रहते, वह बोले, "अंग्रेज़ी सबसे अच्छी, सबसे सरल भाषा है। यह लगभग पूरे विश्व में बोली एवं जानी जाती है। इसका साहित्य अत्यंत समृद्ध है। इसका दूसरी भाषाओं से क्या मुकाबला!"

अब चौथे यात्री की बारी थी। वह किसी हिंदी-भाषी क्षेत्र के ग्रामीण रहे होंगे, बोले, "आप लोगों की बातें सही हैं, मगर आप लोग बातें तो हिंदी में कर रहे हैं!"

बाकी तीनों एक-दूसरे का मुँह देखने लगे।

❑❑

घ. समझ

❑ बीर राजा

सेठजी गाँव में सूद और सुनार का धंधा कर रहे थे। एक बार उनके यहाँ डाका पड़ा। रुपया, ज़ेवर, सोना-चाँदी के साथ घर-गृहस्थी का सारा सामान भी चला गया।

लड़की तथा दामाद गाँव पहुँचे। दामाद ने एफ.आई.आर. लिखवाने पर ज़ोर दिया। सेठजी तैयार न थे, बराबर टालते रहे, किंतु दामाद के रूठने पर किसी तरह तैयार हुए।

दस कोस दूर थाने पहुँचे। दरोगा पलंग पर बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। सेठजी को देखते ही खिल उठा। फौरन दो कुरसियाँ और चाँदी की तश्तरियों में मिठाई मँगवाई।

"कैसे तकलीफ की सेठजी?" दरोगा ने नम्रता से पूछा।

"दामाद आए हैं। सोचा, आपसे मिला दूँ। शहरी आदमी हैं ... यहाँ इनका मन नहीं लगता।" सेठजी ने हँसते हुए कहा।

लेकिन सेठजी ने रपट नही लिखवाई।

इतने शालीन दरोगा के पास रपट न लिखवाने पर दामाद ससुर से लड़ पड़ा।

सेठजी ने उसे समझाते हुए कहा, "जिस पलंग पर दरोगा बैठा था, जो हुक्का वह पी रहा था, जिन प्लेटों में हमने खाया और जिन कुरसियों पर हम बैठे थे, वे उसकी नही थीं, हमारी थीं, जो डाके में चली गई थी।"

दामाद उन्हें हैरानी से देखने लगा।

"यह मैं पहले ही समझ चुका था। गलती मेरी ही थी। दरोगा की लड़की की शादी में बने गहनों के मैं पैसे माँग बैठा था।" सेठजी ने आगे

"अब क्या होगा?"

"घबराने की ज़रूरत नहीं। आस-पास के सभी गाँव गरीब हैं। लोगों को हमेशा पैसों की ज़रूरत रहती है। तीन-चार बरसों में इनसे सब वसूल लूँगा। लेकिन दरोगा से दुश्मनी मोल लेकर तो मैं एक फूटी कौड़ी भी नहीं कमा सकूँगा!"

❑ ❑

बोध-प्रश्न

1. अशोक अपने स्वस्थ होने का श्रेय चिकित्सा से अधिक मारथा को क्यो देता है?
2. आप किस आधार पर कह सकते है कि मारथा की ममता, मानव-मात्र के प्रति है, किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं।
3. छपी हुई खबर की अपेक्षा न छपी खबर क्यों अधिक महत्त्वपूर्ण है?
4. सब भाषाएँ अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठ हैं, फिर भी अंतर्भाषीय संपर्क के लिए हिंदी को ही चुनना क्या सिद्ध करता है?
5. थाने पहुँचकर भी सेठजी बिना रिपोर्ट लिखवाए क्यों लौट आए?
6. अपने नुकसान की भरपाई का सेठ ने क्या उपाय सोचा और क्यों?

5. मेरा भाई

❑ शिवानी

इस बार लखनऊ लौटने के दूसरे ही दिन ईद पड़ी। मैं बड़ी देर तक उनकी राह देखती रही। ऐसा क्या कभी हुआ था कि वे मुझे ईदी देने न आएँ? साथ में रहता रूमाल में बँधा सेवइयों से भरा कटोरा। उनके यहाँ क्या कभी चूल्हा जलता था! होटल में रहते थे, पर इष्ट मित्र सेवइयाँ भेजते तो मेरे हिस्से को सहेज कर कटोरे में रख लेते। घर-घर की विभिन्न स्वाद, रंग, रस की सेवइयों की दुर्लभ सौगात शायद ही किसी के लिए जुटती होगी। इस बार वे नहीं आए, न उन्होंने मुंबई से लिखे गए मेरे पत्र का उत्तर ही दिया था। मेरा माथा ठनका और मैंने एक परिचित मित्र को फ़ोन किया। "अरे क्या आपने नहीं सुना? उनका तो मई में इंतकाल हो गया। सोए थे, बस सोते ही रहे।"

गहन अपराध भावना ने मुझे दिन-भर क्षुब्ध रखा। एक ही पत्र लिखकर मैंने भी तो चुप्पी साध ली थी। किसी और को लिख कर उनकी कुशल तो पूछ सकती थी। वह व्यक्ति जो सहोदर नहीं था, पर जिसकी मृत्यु की सूचना आज मानस की पंक्ति बन कानों में बज रही थी – 'मिलहि न जगत सहोदर भ्राता।'

मेरा भाई चला गया, ऐसा भाई जो प्रत्येक होली पर मेरे यहाँ होली की गुझिया खाने आता था, जबकि उन्हें इस त्योहार से बेहद चिढ़ थी, "लाहौल विला कूवत, देख रहे हैं कि हम सफ़ेद चिट्ट शेरवानी पहने हैं, फिर भी रंग डाल दिया कमबख़्तों ने।" मेरे पति की बीमारी में वे नित्य आकर उनके सिरहाने बैठ जाते, "जा, तुझे जो काम करना है निपटा ले, हम बैठे हैं।" मैं कई

बार उन्हें घंटों बिठाए रखती। कभी दवा लानी है, और दवाएँ भी कैसी दुर्लभ, आयुर्वेद के कष्टसाध्य उपचार के लिए कभी नीमचढ़ी गिलोय, कभी पुनर्रवा और कभी अश्वगंधा। कभी-कभी मुझे भटकते घंटों लग जाते। प्रायः ही ये जड़ी-बूटियाँ जुटाने रकाबगंज जाना पड़ता। खिसियाकर लौटती तो देखती हामिद भाई ऋषि-मुनियों के से अडिग धैर्य से मेरे रुग्ण पति के सिरहाने बैठे हैं। किंतु जब ये संजीवनी बूटियाँ भी यम को पराजित नही कर पाईं, तो अंधकारपूर्ण भविष्य मुझे आतंकित कर मेरा मेरुदंड झनझना गया। सगे-संबंधी उस तत्परता से चलते बने थे जैसे सड़क के चौराहे पर मदारी का तमाशा देख रही भीड़ पैसा देने के क्षण से मुक्ति पाने त्वरित फुरती से सटक जाती है। एक हामिद भाई ही विपत्ति के उस कठिन क्षण में मेरे साथ खड़े रहे। "देख बच्ची", मेरे कंधे पर उन्होंने हाथ धरकर कहा था, "हिम्मत हारेगी तो काम नहीं चलेगा। कमर कस और आगे बढ़। इंशा अल्ला, मियाँ खुद हाथ बढ़ा देगा।"

कभी-कभी सोचती हूँ, विपत्ति से जूझने का ज़िरहबख़्तर मुझे मिला था हामिद भाई से, हथियार नागर जी से, जिन्होंने कहा था,"बहन, हम तुम्हें तप कर जीते देखना चाहते हैं, घुल कर नहीं।" और धैर्य की मंजूषा थमाई थी गुरुवर हजारीप्रसाद जी ने, "विपदि धैर्य मथाभ्युदये क्षमा।" यद्यपि स्वयं उनकी आँखों से झरझर आँसू बह रहे थे, किंतु उनके गुरु गंभीर कंठस्वर से निकली वह पंक्ति उसी क्षण मेरा पाथेय बन गई थी।

हामिद भाई की पहली याद रामपुर की ही आती है। रामपुर जहाँ आज भी मेरे बचपन की स्मृतियों की सुवर्ण मुद्रा खचित गगरी धरा में धँसी रह गई है। हमारी कोठी 'मुस्तफ़ा लॉज' एक आलमगीर बुलंद इमारत थी और मेरे पिता रियासत के पहले हिंदू गृहमंत्री थे। हामिद भाई के चचा सर अब्दुल समद खाँ की कोठी 'रोज़ विला' हमारी कोठी से गज़-भर के फ़ासले पर थी। उन्हीं के भाई अब्दुल वाहिद खान के मँझले बेटे थे, हामिद। उनकी अपनी कोई बहन नहीं थी। इसी से हम बहनों पर उनका अनन्य स्नेह था। मैं तब आठ या दस वर्ष की रही हूँगी। जब कभी छुट्टियों में आते, मेरे लिए एक-न-एक उपहार अवश्य लाते — कभी फ्रॉक और कभी बड़ी-सी गुड़िया और कभी आर्मी नेवी स्टोर के वे बड़े-बड़े रंगीन क्रैकर, जो दोनों

ओर से खींचे जाने पर खंडित शिवधनु की-सी गर्जना से हमारे नन्हे हृदय को दहला देते। ईद के तो कहने ही क्या! हामिद भाई दुनिया के किसी कोने में क्यों न हो, उनका भेजा दस रुपए का मनीऑर्डर मुझे बड़ी तत्परता से ढूँढ़ ही लेता। उन दिनों उनका जैसा ओहदा था, वैसा ही रोब भी था। "साहजादा साहब तशरीफ़ ला रहे हैं।" सूचना मिलते ही हमारे पूरे घर में हड़कंप मच जाता। "देखो भई, चाय ज़रा कायदे से भिजवाना," मेरे पिता अम्मा से कहते,"हामिद अभी-अभी विलायत से लौटा है, साहब आदमी है।"

देखने में हामिद भाई अपने सुदर्शन पिता के विपरीत थे – साँवला रंग, बेहद लंबी नाक, भरे-भरे कल्ले, निरंतर अधमुँदी रहने वाली बहुत बड़ी आँखें, बेहद मोटे कुछ लटके से ओंठ और बित्ते-भर का कद, उस पर मेदबहुल शरीर। बैठते तो सोफ़ा धँस जाता, हँसते तो लगता किसी ने कोरे लट्ठे का थान फाड़ दिया हो। उनकी चमचमाती मॉरिस गाड़ी सदा दर्पण-सी चमकती। स्वामी की ही भाँति चालक की भी वरदी ठसकेदार रहती। और फिर इन्ही आँखों ने एक दिन उस प्रखर सूर्य का अवसान भी देख लिया। लखनऊ के बर्लिंग्टन होटल के उस दो नंबर के कमरे में बंद उसी शाहजहाँ को जब-जब देखती मन विचलित हो उठता। दीवारों का उखड़ा पलस्तर, रोशनदान में लटकी मकड़ी के जालों की झालरें, झूला-सा बन गया पलंग, उस पर बेतरतीबी से बिछा ढाई गज़ी बेडकवर, और पूरे कमरे में एक मनहूस सीलनभरी घुटन। एक बार गई तो वे खाना खा रहे थे। रंग उड़ी तामचीनी की प्लेट पर धरी चमड़े-सी चपातियाँ, नन्ही चिलमचीनुमा कटोरियों में दाल, सालन-दाल अलग और पानी अलग।

"खाओगी?" उन्होंने पूछा, फिर स्वयं ही एक लंबी साँस लेकर बोले, "अल्लाह, रहम कर, किस मुँह से कहें तुमसे बच्ची, कि ये चरी-भूसा खा लो।"

हर इतवार को वे मेरे यहाँ दोपहर का खाना खाने आते। पहाड़ में रहे थे, इसी से पहाड़ी खाना उन्हें बहुत पसंद था। प्रायः ही फ़रमाइश करते, गरम पानी वाला खाना बनाना – गरम पूड़ी, पीले आलू और पीला रायता। धीरे-धीरे शरीर की शक्ति घटती गई, हृदय जीर्ण हो चला, घुटनों में पानी भर गया। पहले तो गिरते-पड़ते मेरे घर की सीढ़ियाँ चढ़ लेते थे, फिर रिक्शा से उतरना भी दूभर हो गया। उधर अनेक आघातों ने उन्हें तोड़ कर रख दिया था। जिन भतीजों

को नैनीताल के नामी स्कूलों में पढ़ाया था, उन सबके पंख उग आए और वे फुर्र-से उड़ गए। पिता की एक दुर्घटना में मृत्यु हो गई, वर्षों से पागलखाने में बंदी छोटे भाई की मृत्यु हो गई। अचानक उन्हें लगने लगा, वे इतने बड़े संसार में एकदम अकेले रह गए है। सबने उन्हे भुनाया मात्र था। काम निकलते ही एक-एक ने अँगूठा दिखा दिया। मन की इसी कुंठा ने उन्हें अंतिम दिनों में मनुष्य द्रोही बना दिया था। जितनी देर बैठे रहते, उतनी देर एक-एक को चुनकर गालियाँ देते रहते।

हामिद भाई ने आजन्म कुँवारे रहने का व्रत क्यों धारण किया था! जिससे वे विवाह करना चाहते थे, उसने उन्हीं के शब्दों में उन्हें 'डिच' किया था। बराबर उन्हें यही उम्मीद दिलाती रही कि उन्हीं से विवाह करेगी। फिर सहसा किसी और की बेगम बन पाकिस्तान चली गई। हामिद भाई के अंतिम दिनों में उस व्यर्थ प्रेम की स्मृति फॉस बनकर चुभने लगी थी। एक दिन, वर्षों के बाद, बिना किसी सूचना के वह उनसे मिलने आ गई। उसे विदा कर वे सबसे पहले सीधे मेरे यहाँ ही आए थे, "बच्ची, आज वो आई थी।" उनके झुर्रियों-भरे, धँसे गालों पर पल-भर को अबीरी लाली उभर आई।

"कौन?" मैंने पूछा।

"और कौन?" फिर हँसकर बोले।

"वही — अब समझी।" पाकिस्तान से आई थी। मैं भला कैसे न समझती!

"आपने रोक क्यों नही लिया हामिद भाई? अब तो सुना उनके शौहर भी नहीं रहे।"

"बच्ची, जब हमारी आवाज़ में कड़क और दिल में धड़क थी, तब ही नही रोक पाए तो अब क्या ख़ाक रोक पाते!"

कौन कह सकता था कि कभी दूल्हे-से सज-धजकर निकलने वाले हामिद भाई यह वही हामिद भाई थे जिनके सूट फेल्प्स से सिलकर आते थे, घंटे-भर को कहीं जाते तो चमड़े के बैग में पालिश की डिबिया और ब्रश लिए सरकारी चोबदार पीछे-पीछे भागता, दस

कदम भी चले और फटाफट जूता फिर दर्पण-सा चमका दिया जाता। और अब? उधड़े फटे मोजे, न जाने किस ज़माने के जीर्ण दस्ताने जिनमें से पाँच में से तीन अँगुलियों का अर्धांग बाहर निकला रहता।

इधर एक वर्ष से वे रिक्शा से भी नहीं उतर पाते थे। मैं वहीं थाली परोसकर ले जाती। कौर मुँह में ले जाने की भी शक्ति उनमें नहीं रही थी। मुझे बार-बार यही भय रहता था कि कही मेरे दरवाज़े इन्हें कुछ हो गया तो मैं क्या करूँगी? उस पर कुछ विक्षिप्त-से भी हो गए थे। जो वर्षो पहले जा चुके थे, उन्हें याद करते। मुझसे कहते, "जा, बुला ला उन्हें, त्रिभी कहाँ है? शुकदेव कहाँ है? हम इतनी दूर से आए हैं और वे ज़नानी बने परदे में दुबके हैं!"

जब मैं कहती कि मेरे बड़े भाई और पति जिन्हें वे बुलाने को कह रहे हैं, वे तो कब के जा चुके हैं तो वे कहते, "कहाँ जा चुके हैं? तुम क्यों नही जा सकती उन्हें बुलाने?"

"काश, मैं जा सकती!"

"हम हुकुम दे रहे है।" उनका पठानी रक्त फिर रगों में दौड़ने लगता।

"वहाँ किसी का हुकुम नहीं चलता, हामिद भाई।" मुझे हँसी आ गई और वे बौखला गए।

"हँसती है। दाँत भीतर कर दूँगा। मैं कहता हूँ बुला ला उन्हें।" वे गरजते ओर आसपास की खिड़कियों से प्रतिवेशियों के कौतूहली चेहरे झाँकने लगते। फिर आरंभ होता उनकी गालियों का दौर। मेरे जी में आता, धरती फट जाए और मैं धँस जाऊँ।

दिनभर लखनऊ की अली-गलियों में इसी रिक्शा में घूमते रहते -- कभी महानगर, कभी निशातगंज, कभी नक्खास, कभी अमीनाबाद। लखनऊ के हर गली-कूचे में तो उनके परिचित थे। फिर धीरे-धीरे वहाँ से भी दुरदुराए जाने लगे। एक दिन मेरे पास आए तो मैं पूजा कर रही थी। उतरने में विलंब हुआ। मैं डर रही थी कि देखते ही देखते बरस पड़ेंगे। पर उस दिन आग का दरिया जैसे बर्फ़ की ही माला बन गया था। उनका उतरा चेहरा, डबडबाई आँखें देख

स्वयं मेरा अपराधी अंतःकरण मुझे धिक्कार उठा। एक दिन क्या पूजा संक्षिप्त नहीं कर सकती थी? कभी जिनकी कार का शब्द सुनते ही सीढ़ियाँ धड़धड़ाती, उनसे लिपटकर पूछती थी, "क्या लाए हैं, हामिद भाई? क्या लाए हैं हमारे लिए?" आज उसी बुज़ुर्ग को सडक पर इतनी देर खड़ा रखा। "माफ़ कीजिएगा, हामिद भाई, पूजा कर रही थी।" वे कुछ नहीं बोले।

मैं पास गई तो मेरा हाथ थामते ही बड़ी देर से रोका गया कंठ का गह्वर आँखों से फूट चला। मैंने उन्हें ऐसे बच्चों-सा सुबकते इससे पूर्व कभी नहीं देखा था। लगता था, कहीं गहरी चोट खाई है। "खैरियत तो है हामिद भाई?" "क्या कहें बच्ची, एक तुम्हारा और एक चची का घर ही तो बचा था हमारे लिए। आज वहाँ से भी दुरदुरा दिए गए। चची ने साफ़ कह दिया – "हामिद, अब ऐसी हालत में तुम हमारे यहाँ मत आया करो।"

उनकी एक प्रिय चचेरी बहन कुछ दिन पहले ही लिख चुकी थी, "अब तुम अलीगढ़ मत आना हामिद। कहीं ट्रेन में कुछ हो गया तो? यहाँ आ भी गए तो अब हम तुम्हारी देखभाल नहीं कर पाएँगी। तुम जानते ही हो, हमें अपने मरीज़ों से ही फुरसत नहीं मिलती। एक और मरीज़ की देखभाल करना अब हमारे लिए नामुमकिन है।"

"लीजिए, यानी कि अपनी बहन के लिए हम एक और मरीज़ बन गए।" पर आहत होने पर भी वह अपनी विनोदप्रियता का छौंक लगाना नहीं भूले :

दीवार क्या गिरी मेरे कच्चे मकान की,
लोगों ने मेरे सहन में रास्ते बना लिए।

पाकिस्तान के विदेशमंत्री साहबज़ादा याकूब खान उनके सगे चचेरे भाई थे। एक दिन मैंने कहा,"कितनी शक्ल मिलती है आपसे, कल टेलीविजन पर देखा था।"

"शक्ल ही तो मिलती है बच्ची, किस्मत तो नहीं मिलती।"

मैं जब भी लखनऊ से बाहर जाती, वे उदास हो जाते, "तुम जाती हो तो हमें लगता है हम एकदम अकेले हो गए हैं, कही कुछ हो गया तो कौन पहुँचाएगा हमें कब्र तक।"

"हामिद भाई," मैंने हँसकर उन्हें छेड़ दिया था, "मैं तो वैसे भी चिता तक ही पहुँचा सकती हूँ। आप भूल जाते हैं कि मैं हिंदू, आप मुसलमान।"

उन्होंने लाहौल पढ़कर मुझे फटकार दिया था, "फिर वही बेहूदा बात। न तुम हिंदू न हम मुसलमान, न तुम्हारे मंदिर न हमारी मस्जिद। बस यह याद रखना बच्ची, तुम हमारी बहन हो, हम तुम्हारे भाई। यही एक रिश्ता है हमारा और यही हमेशा रहेगा।"

उस रिश्ते को तो उन्होंने मरते दम तक निभाया। मेरी हर बेटी की शादी पर आए। मेरे हर दामाद ने उनके पैर छुए। मेरे बेटे ने सगे भानजे का रिश्ता निभाया। बहू तो बहू, बहू की माँ भी जब उनके लिए लैंब ऊन का दामी स्वेटर भेजना नहीं भूलीं, तो उनकी आँखें अकपट अश्रुजल से छलक उठी।

फिर इसी मार्च में जब मुझसे मिलने आए तो देखा कि उनके दोनों पैर बुरी तरह सूजे थे। बहकी-बहकी बातों में कहीं कोई तुक नहीं था। फिर भी बीच-बीच में अतीत की स्मृतियाँ जैसे चाबुक लगाकर उन्हें सचेत कर रही थीं, "बच्ची, अब हमारी यह आखिरी मुलाकात है। अब हम तुम्हें कभी नहीं देखेंगे।"

फिर अपनी सूजी उँगलियों से मेरा हाथ थाम उन्होंने माथे से लगाया। शब्द मेरे कंठ में सटे जा रहे थे। फिर भी स्वर को संयत कर कहा, "कैसी बाते करते हैं आप! देख लीजिएगा, ईदी लेने ठीक वक्त पर ही पहुँच जाऊँगी।"

पर कहाँ पहुँच पाई मैं! कभी उन्होंने कहा था, "कभी मौत से मत डरना। हमें देख, दोनों पैर कब से कब्र में लटकाए बैठे हैं। अल्ला मियाँ ने पुकारा और हम उतर पड़े कब्र में। याद रख, बुज़दिलों को ही मौत तड़पा-तड़पा कर मारती है — चूहा, बिल्ली से डरता है, तभी तो बिल्ली उसे पटक-पटक कर मारती है। जो मौत से नहीं डरते, मौत उन्हें कंधे पर बैठाकर ले जाती है।"

सच, मौत उन्हें कंधे पर बैठाकर ही ले गई। लखनऊ के न जाने किस कूचे की दोगज़ी जमीन में मेरा वह भाई चैन की नीद सो रहा है। किसी न किसी दिन तो वह जगह ढूँढ़ ही

लूँगी और यह भी जानती हूँ कि उस फ़रिश्ते की कब्र से यही सदा गूँजेगी – न तुम हिंदू, न हम मुसलमान, न तुम्हारे मंदिर, न हमारी मस्जिद। बस, यह याद रखना बच्ची, कि तुम हमारी बहन और हम तुम्हारे भाई – एक यही रिश्ता है हमारा और यही हमेशा रहेगा!

बोध-प्रश्न

1. लेखिका ने रामपुर को बचपन की स्मृतियों की स्वर्णमुद्रा खचित गगरी क्यों कहा है?
2. हामिद भाई ने आजन्म कुंवारे रहने का व्रत क्यों लिया था?
3. 'शक्ल ही तो मिलती है बच्ची, किस्मत तो नहीं मिलती' – ये शब्द हामिद भाई ने किस संदर्भ में और क्यों कहे?
4. लेखिका ने हामिद भाई की रूपाकृति का चित्र किन शब्दो में खीचा है?
5. हामिद भाई की युवावस्था और वृद्धावस्था की स्थितियो में आए अंतर का अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।
6. कहानी के उन प्रसंगों को चुनिए जिनसे यह व्यक्त होता है कि लेखिका और हामिद भाई के रिश्ते में धर्म का अंतर कभी आड़े नही आया।
7. 'स्नेह का रिश्ता खून के रिश्ते से बढकर है।' कहानी में वर्णित स्थितियों के आधार पर टिप्पणी कीजिए।

6. कर्मयोगी लाल बहादुर शास्त्री

❑ डॉ. शंकरदयाल शर्मा

शास्त्रीजी के नाम के साथ 'कर्मयोगी' विशेषण जोड़ना बिलकुल उपयुक्त है, क्योंकि मुझे तो उनका सारा जीवन ही कर्म से भरा हुआ मालूम पड़ता है। शास्त्री जी सामान्य परिवार से ऊपर उठकर देश के प्रधानमंत्री के जिस महत्त्वपूर्ण पद तक पहुँचे, उसका रहस्य उनके कर्मयोगी होने मे ही छिपा हुआ है। वह उन लोगों में से नही थे, जिन्हें जीवन का बना बनाया आसान रास्ता मिल जाता है। वह उन लोगों में से भी नहीं थे, जो भाग्य पर भरोसा करके बैठे रहते हैं और अचानक कभी सफलता मिल जाती है। बल्कि वह उन लोगों में से थे, जिनको अपनी हथेली की लकीरों के बजाय अपने चिंतन और कर्म की शक्ति पर अधिक भरोसा होता है और वे क्रमशः अपने जीवन का रास्ता बनाते हुए आगे बढ़ते हैं। शास्त्री जी के लिए कर्म ही ईश्वर था और इसके प्रति वह बिना किसी फल की आशा किए संपूर्ण भाव से समर्पित रहते थे। यहाँ तक कि जब भी उन्हें फल की प्राप्ति के अवसर मिले, तब ही उन्होंने उस ओर हमेशा उपेक्षित दृष्टि ही रखी। उनका जीवन-दर्शन 'गीता' के निष्काम कर्मयोगी का प्रतिरूप था। इसलिए मैं समझता हूँ कि उन्हें केवल कर्मयोगी के बजाय 'निष्काम कर्मयोगी' कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा।

अपने उद्देश्य के प्रति दृढ़ आस्था, उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कर्म का भाव तथा उस कर्म के प्रति संपूर्ण समर्पण – ये तीन बातें – मुझे उनके संपूर्ण चरित्र तथा जीवन-दर्शन में दिखाई पड़ती हैं। अपने एक भाषण में उन्होंने इसी तरह के विचार व्यक्त करते हुए कहा था, "यहाँ तक कि भले ही आप राजनीतिक क्षेत्र या सामाजिक क्षेत्र या किसी अन्य

क्षेत्र में कार्य करते हैं, यदि आप उसमें सफल होना चाहते हैं, अपने दायित्वों का पूरी तरह से निर्वाह करना चाहते हैं, तो आपके कार्य और समर्पण तथा भक्ति और कर्म में समन्वय होना चाहिए।"

मैं शास्त्री जी की सफलता का रहस्य उनके इसी महत्त्वपूर्ण चिंतन में मानता हूँ। साथ ही यह भी मानता हूँ कि किसी भी व्यक्ति, समाज और देश के विकास का रहस्य इसी भक्ति और कर्म के सिद्धांत में निहित है।

शास्त्री जी का संपूर्ण जीवन श्रम, सेवा, सादगी और समर्पण का अनुपम उदाहरण है। उनके ये गुण केवल उनके कार्यों और विचारों में ही अभिव्यक्ति नही पाते थे, बल्कि उनको देखने से ही इन सभी भावों का अहसास हो जाता था। उनके अपने व्यक्तित्व में विचारों का अनोखा समन्वय था। वह जो कुछ कहते थे, वही करते थे। जो कुछ भी करते थे, वह एकमात्र राष्ट्र-लाभ की भावना से प्रेरित होकर करते थे। मुझे लगता है कि यह उनके चरित्र की एक बहुत बड़ी विशेषता थी, जिसके कारण देशवासी उन पर इतना अधिक विश्वास करते थे और उन्हें चाहते भी थे। पंडित नेहरू की समृद्ध राजनीतिक विरासत को सँभालना और उसे आगे ले जाने का काम कम कठिन नहीं था। लेकिन देश ने उस समय यह साफ़-साफ़ देखा कि इसे सँभालने की ताकत शास्त्री जी में ही है और शास्त्री जी ने अपने निर्मल चरित्र और दृढ़ संकल्प शक्ति द्वारा देश की इस आकांक्षा को पूरा किया।

शास्त्री जी की एक सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि 'वे एक सामान्य परिवार में पैदा हुए थे, सामान्य परिवार में ही उनकी परवरिश हुई और जब वे देश के प्रधानमंत्री जैसे महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँचे, तब भी वह सामान्य ही बने रहे।' विनम्रता, सादगी और सरलता उनके व्यक्तित्व में एक विचित्र प्रकार का आकर्षण पैदा करती थी। इस दृष्टि से शास्त्री जी का व्यक्तित्व बापू के अधिक करीब था और कहना न होगा कि बापू से प्रभावित होकर ही सन 1921 में उन्होंने अपनी पढ़ाई छोड़ी थी। शास्त्री जी पर भारतीय चिंतकों, डॉ. भगवानदास तथा बापू का कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि वह जीवन-भर उन्हीं के आदर्शों पर चलते रहे तथा

औरों को इसके लिए प्रेरित करते रहे। शास्त्री जी के संबंध में मुझे बाइबिल की वह उक्ति बिलकुल सही जान पड़ती हे कि विनम्र ही पृथ्वी के वारिस होंगे।

शास्त्री जी ने हमारे देश के स्वतंत्रता-संग्राम में तब प्रवेश किया था, जब वे एक स्कूल में विद्यार्थी थे और उस समय उनकी उम्र 17 वर्ष की थी। गांधीजी के आह्वान पर वे स्कूल छोड़कर बाहर आ गए थे। इसके बाद काशी विद्यापीठ में उन्होंने अपनी शिक्षा पूरी की। उनका मन हमेशा देश की आज़ादी और सामाजिक कार्यों की ओर लगा रहा। परिणाम यह हुआ कि सन 1926 में वे 'लोक सेवा मंडल' में शामिल हो गए, जिसके वे जीवन-भर सदस्य रहे। इसमें शामिल होने के बाद से शास्त्री जी ने गांधीजी के विचारों के अनुरूप अछूतोद्धार के काम में अपने आपको लगाया। यहाँ से शास्त्री जी के जीवन का एक नया अध्याय प्रारंभ हो गया। सन 1930 में जब 'नमक कानून तोड़ो आंदोलन' शुरू हुआ, तो शास्त्री जी ने उसगें भाग लिया जिसके परिणामस्वरूप उन्हें जेल जाना पड़ा। यहाँ से शास्त्री जी की जेल यात्रा की जो शुरूआत हुई तो वह सन 1942 के, 'भारत छोड़ो' आंदोलन तक निरंतर चलती रही। इन 12 वर्षों के दौरान वे सात बार जेल गए। इसी से यह अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि उनके अंदर देश की आज़ादी के लिए कितनी बड़ी ललक थी। दूसरी जेल यात्रा उन्हें सन 1932 में किसान आंदोलन में भाग लेने के लिए करनी पड़ी। सन 1942 की उनकी जेल यात्रा 3 वर्ष की थी, जो सबसे लंबी जेल यात्रा थी।

इस दौरान शास्त्री जी जहाँ एक ओर गांधीजी द्वारा बताए गए रचनात्मक कार्यों में लगे हुए थे, वहीं दूसरी ओर पदाधिकारी के रूप में जनसेवा के कार्यों में भी लगे रहे। सन 1935 में वे संयुक्त प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सचिव बनाए गए, जिस पद पर वे 1938 तक रहे। किसानों के प्रति उनके मन में विशेष लगाव था। इसीलिए उनको सन 1936 में किसानों की दशा का अध्ययन करनेवाली एक कमेटी का अध्यक्ष बनाया गया। पूरी लगन के साथ काम करके उन्होंने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें जमींदारी उन्मूलन पर विशेष ज़ोर दिया। इसके बाद के 6 वर्षों तक वे इलाहाबाद की नगरपालिका से किसी-न-किसी रूप में जुड़े रहे। मैं समझता हूँ कि इस अनुभव ने भी शास्त्री जी के व्यक्तित्व और चिंतन को नागरिकों की

समस्याओं से निकट से परिचित कराया। उनके पास ग्रामीण जीवन का अनुभव था। अब इसके साथ ही इलाहाबाद नगरपालिका ने जनसेवा का भी अनुभव जोड़ दिया था। लोकतंत्र की इस आधारभूत इकाई मे कार्य करने के कारण वे देश की छोटी-छोटी समस्याओं और उनके निराकरण की व्यावहारिक प्रक्रिया से अच्छी तरह परिचित हो गए थे। कार्य के प्रति निष्ठा और मेहनत करने की अदम्य क्षमता के कारण सन 1937 में वे संयुक्त प्रांतीय व्यवस्थापिका सभा के लिए निर्वाचित हुए। सही मायने में यहीं से शास्त्री जी के संसदीय जीवन की शुरूआत हुई, जिसका समापन देश के प्रधानमंत्री पद तक पहुँचने में हुआ। शास्त्री जी को भारतीय राजनीति की इतनी सही और गहरी पकड़ थी कि श्रीमती इंदिरा गांधी ने उन्हें अपना राजनीतिक गुरु मानते हुए कहा था कि, "उन्ही के मार्ग-दर्शन में मेरा राजनीतिक जीवन शुरू हुआ।"

देश की आज़ादी के बाद उत्तर प्रदेश में तथा केंद्र में शास्त्री जी भिन्न-भिन्न पदों पर रहे। उत्तर प्रदेश में उन्हें गृह-मंत्री बनाया गया। बाद में पंडित नेहरू के अनुरोध पर वे केंद्र में आ गए। केंद्र में उन्होंने रेल और परिवहन, संचार, वाणिज्य, उद्योग और गृह मंत्रालय जैसे महत्त्वपूर्ण पद सँभाले। इन पदों पर रहते हुए शास्त्री जी ने अपनी जिस प्रशासकीय दक्षता का प्रमाण दिया, वह हमारे देश के लिए एक उदाहरण है। अपने मंत्रालयों के कार्यो में उनका दृष्टिकोण अत्यंत व्यावहारिक तथा सभी प्रकार की औपचारिकताओं से परे होता था। वे अपने को कभी भी अपने पद के कारण ऊँचा नहीं मानते थे। उनकी बड़ी सीधी-सी धारणा थी कि वे जनता के शासक नही, बल्कि जनता के सेवक हैं। ऐसी भावना से कार्य करने के कारण उन्हें अपने मंत्रालय में तो लोकप्रियता मिली ही, साथ-ही-साथ सारे देश में भी लोकप्रियता मिली। इसी लोकप्रियता का परिणाम था कि पंडित नेहरू के निधन के बाद देश ने उन्हें प्रधानमंत्री के रूप में स्वीकार किया। देश के इस महत्त्वपूर्ण पद पर रहते हुए केवल 19 महीने के छोटे-से समय में उन्होंने जितनी सफलताएँ और लोकप्रियता प्राप्त की, वह एक उदाहरण है। शास्त्री जी के सामने अपना उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट था। उसमें किसी प्रकार का धुँधलापन या भटकाव नही था। वे हमारे देश के अत्यंत महत्त्वपूर्ण पदों पर रहे और इन पदों पर रहते

हुए स्वाभाविक रूप से वे अधिकार संपन्न भी थे। लेकिन उन्होने हमेशा आत्मसंयम से काम लिया तथा अधिकारों से अधिक कर्तव्यों को तरजीह दी। शायद इसीलिए शास्त्री जी इतने अधिक लोकप्रिय भी हो सके। उन्होंने अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में 19 दिसंबर 1964 को छात्रों को संबोधित करते हुए कुछ इसी तरह के विचार व्यक्त किए थे, "आपके भविष्य की मंज़िल चाहे जो कुछ भी हो, आप में से प्रत्येक को यह सोचना चाहिए कि आप सबसे पहले देश के नागरिक हैं। यह आपको संविधान द्वारा प्रदत्त कुछ अधिकार देता है, लेकिन इससे कुछ कर्तव्यों का भी बोझ आता है, जिसे समझना चाहिए। हमारा देश प्रजातांत्रिक है, जो निजी स्वतंत्रता देता है, लेकिन इस स्वतंत्रता का उपयोग एक व्यवस्थित समाज के हित में स्वेच्छा से लगाए गए प्रतिबंधों के तहत होना चाहिए और इन स्वैच्छित प्रतिबंधों का उपयोग और प्रदर्शन प्रतिदिन के जीवन में होना चाहिए।" अधिकार, कर्तव्य और आत्मसंयम के बारे में यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात शास्त्री जी ने कही थी, जिसे आज याद रखने की ज़रूरत है।

बोध-प्रश्न

1. लाल बहादुर शास्त्री के साथ 'कर्मयोगी' विशेषण जोड़ना क्यों उपयुक्त है?
2. शास्त्री जी के चरित्र की किन विशेषताओं के कारण देशवासी उन पर विश्वास करते थे?
3. शास्त्री जी की लोकप्रियता के कुछ कारणों पर प्रकाश डालिए।
4. संवैधानिक अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति शास्त्री जी के विचारो को अपने शब्दो में लिखिए।
5. शास्त्री जी ने किन रूपों मे अपनी प्रशासनिक क्षमता का परिचय दिया?
6. शास्त्री जी के जीवन से 'श्रम, सेवा, सादगी और समर्पण' भावों से संबंधित कोई दो उदाहरण दीजिए।

7. दो कलाकार

❑ भगवतीचरण वर्मा

पात्र-परिचय

चूड़ामणि : एक कवि

मार्तंड : एक चित्रकार

परमानंद : एक प्रकाशक

रामनाथ : एक रईस

बुलाकीदास : मकान मालिक

स्थान – किसी बड़े नगर के एक बड़े मकान का एक कमरा।

समय – दिन का कोई समय।

(एक बड़ा-सा कमरा। कमरे में किसी प्रकार का कोई फर्नीचर नही है। अंदर की तरफ़ कमरे के आधे भाग में तसवीरें बिखरी पड़ी हैं और दूसरे आधे भाग में पुस्तकें बिखरी पड़ी हैं। फ़र्श पर स्टेज (मंच) के एक विंग से लेकर दूसरे विंग तक एक चटाई बिछी है। चटाई के बीचोबीच एक तकिया है जो मंच के सामने न होकर दोनों विंगों के सामने है। तकिये को अपनी पीठ पर रखकर विंग की ओर मुँह किए एक ओर पंडित चूड़ामणि बैठे हैं और दूसरी ओर मिस्टर मार्तंड बैठे हैं। चूड़ामणि के आगे एक मोटा-सा रजिस्टर है जिस पर वे फाउंटेनपेन से लिख रहे हैं। मार्तंड के आगे एक छोटा-सा स्टैंड है जिस पर एक अधबनी तसवीर लगी है। उसके हाथ में एक तूली है और वह तसबीर बना रहा है।)

चूड़ामणि : (लिखते-लिखते कलम रोककर, पर उसकी आँखें रजिस्टर पर ही लगी हैं।) सुना मार्तंड! आज मैं प्रकाशक परमानंद के यहाँ गया था। वह बोला कि किताबें बिकती ही नहीं, पैसा कहाँ से आए! एक पैसा मेरे पास नहीं। और बदमाश ने कल ही एक मोटर खरीदी है।

मार्तंड : (तूली रोककर और तसवीर की ओर ध्यान से देखते हुए) भाई, यह तो बुरी सुनाई। मैं तो सोचता था कि तुम रुपए ले आए होंगे, नहीं तो मैं ही लाला रामनाथ के हाथ सात रुपए में ही तसवीर बेच देता।

चूड़ामणि : (रजिस्टर पर आँखें गड़ाता है, मस्तक पर बल पड़ जाते हैं।) क्या कहा? तुम भी रुपए नही लाए?

मार्तंड : (चित्र पर तूली से रंग देते हुए) लाता कैसे? भला बताओ, पचास रुपए की तसवीर के अगर कोई पच्चीस तक दे, तो भी वह बेची जा सकती है। लेकिन जब कोई यह कहे कि मैं सात रुपए के ऊपर एक कौड़ी भी नहीं दे सकता, तब भला तुम्हीं बताओ मैं क्या कर सकता था।

चूड़ामणि : (लिखता हुआ) हूँ! ऐसी बात है! तुम्हारी जगह अगर मैं होता तो मैं उससे साफ़ कहता कि तुम्हारे बाप ने भी कभी तसवीर खरीदी है कि तुम्हीं खरीदोगे – और यह कह कर मैं सीधा वापस आता।

मार्तंड : (तसवीर बनाता हुआ) अच्छा होता कि तुम्हीं मेरी जगह वहाँ होते।

चूड़ामणि : (लिखता हुआ) तो क्या तुम बुद्धू की तरह चले आए?

मार्तंड : (तसवीर बनाना रोक कर तसवीर की ओर देखता है।) नहीं यार! मैंने तो उठने की तैयारी करते हुए सिर्फ़ इतना कहा – तुम चोर हो। और जब उसने सिर उठाया तब मुझसे रहा न गया और मैंने उससे कहा– तुम उठाईगीर हो! और जब उसने मेरी तरफ देखा तब मैं उससे इतना कहने का लालच न रोक सका और मैंने उससे कहा – तुम गिरहकट हो!

चूड़ामणि : (हँसते हुए रजिस्टर को देखता है) बात तो तुमने बेजा नही कही!

मार्तंड : (मुसकराते हुए तसवीर पर तूली चलाने लगता है) नही, बात तो बेजा नहीं थी, लेकिन बात कहने के जोश में मैं यह भूल गया था कि मैं उसके घर में बैठा हूँ और उसके दस-पॉच नौकर भी हैं।

चूड़ामणि : (कलम ज़मीन पर ठोंकते हुए) तो फिर तुम पिटे भी?

मार्तंड : (तूली रोक कर) अगर पिटता, तो भी अच्छा था क्योंकि इधर बहुत दिनों से पिटा नहीं हूँ, लेकिन इसकी नौबत ही न आई। उसने नौकरों को आवाज़ दी और चार आदमी कमरे में घुस आए। उसने कहा – मारो! और मैं समझा कि मुझसे कह रहा है। लिहाज़ा मैंने ताना घूँसा, और वह बैठा था सामने। सो घूँसा ठीक उसकी नाक पर पड़ा।

चूड़ामणि : (चौंक कर हाथ ऊपर उठाते हुए) वेल डेन! शाबाश! (फिर लिखने लगता है) लेकिन तुम बच कैसे आए?

मार्तंड : (तूली नीचे रखते हुए) यह बात हुई कि नौकरों ने सम्हाला उसे, और मैं तसवीर उठा कर वहाँ से भागा। लोग ले-दे करते ही रहे – और मैंने सीधे घर पहुँचकर साँस ली। (कुछ रुककर) लेकिन आएगा वह ज़रूर! गलती से मैं अपनी तसवीर की जगह उसके बाप की तसवीर, जो उसी दिन विलायत से बन कर आई थी, उठा लाया हूँ!

चूड़ामणि : (लिखते हुए) खैर, चिंता न करो। मैं परमानंद की सोने की घड़ी उठाकर यह कहता भागा कि अगर दो घंटे के अंदर रुपया न दिया तो मैं घड़ी बेच दूँगा। (जेब से घड़ी निकालकर वह देखता है। बाहर से दरवाज़ा पीटने की आवाज़ आती है। दोनों अपना-अपना काम रोककर दरवाज़े की ओर देखते हैं।)

आवाज़ : चूड़ामणि जी!

मार्तंड : नही हैं।

(मुँह फेरकर तसवीर बनाने लगता है।)

आवाज़ : मार्तंड जी!

चूड़ामणि : नहीं हैं। (मुँह फेरकर लिखने लगता है।)

आवाज़ : आप दोनों मौज़ूद हैं। किवाड़ खोलिए!

दोनों : नहीं खोलेंगे!

आवाज़ : हम दरवाज़ा तोड़ देंगे।

चूड़ामणि : बड़ी खुशी से! आपका दरवाज़ा है।

मार्तंड : और अपनी चीज़ अगर आप तोड़ें तो भला हम रोकने वाले कौन होते है।

आवाज़ : हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि दरवाज़ा खोलिए।

चूड़ामणि : किससे? चूड़ामणि से या मार्तंड से?

आवाज़ : दोनों से!

मार्तंड : दरवाज़ा खोलने का काम सिर्फ़ एक आदमी ही कर सकता है।

आवाज़ : अगर आप लोग दरवाज़ा नहीं खोलते तो मैं बाहर से ताला बंद किए देता हूँ!

चूड़ामणि : ऐसी हालत में दरवाज़ा हमें तोड़ना पड़ेगा।

मार्तंड : और नुकसान आपका होगा!

आवाज़ : मार्तंड जी, आपसे प्रार्थना करता हूँ कि दरवाज़ा खोलिए।

मार्तंड : हॉ, अब तुमने बात ढंग से की। (मार्तंड उठकर ज़ंजीर खोलता है। बुलाकीदास का प्रवेश। मार्तंड ज़ंजीर खुली छोड़कर लौटता है और अपनी जगह बैठकर तसवीर बनाने लगता है।)

बुलाकीदास : (बीच कमरे में खड़े होकर) छह महीने हो गए! मुझे किराया चाहिए।

(दोनों चुप रहते हैं)

बुलाकीदास : आप लोग सुनते हैं?

चूड़ामणि : कृपा करके आप बात मार्तंड जी से करें!

बुलाकीदास : क्यों? आपसे क्यों नहीं?

चूड़ामणि : इसलिए कि आपने किवाड़ खुलवाया है मार्तंड से, मेरा किवाड़ अभी तक बंद है! लिहाज़ा आप को मुझसे बात करने का कोई अधिकार नहीं!

(लिखने लगता है।)

मार्तंड : (बुलाकीदास की तरफ मुड़कर) लाला बुलाकीदास, आपने पहले आवाज़ दी चूड़ामणि को। वे यहाँ मौजूद हैं, आप उनसे बातचीत करें। (तसवीर बनाने लगता है।)

बुलाकीदास : मैं आप दोनों से कहता हूँ कि जब से आप लोग इस कमरे में आए हैं, तब से आप लोगों ने एक पैसा भी नहीं दिया। छह महीने हो गए। पच्चीस रुपए के हिसाब से डेढ़ सौ रुपए होते हैं।

चूड़ामणि : (लिखना बंद करके बुलाकीदास की ओर घूमता है।) बिलकुल झूठ! आपके नाती के मुंडन के निमंत्रण-पत्र पर मंगलाचरण की कविता मैंने लिखी थी, एक महीने का किराया वह अदा हुआ। (चूड़ामणि फिर से लिखना शुरू कर देता है, बुलाकीदास आश्चर्य से चूड़ामणि की ओर देखता है।)

मार्तंड : (तेज़ी से घूमकर) ओर आपको पूजा करने के लिए राधाकृष्ण की तसवीर मैंने बना कर दी थी, दूसरे महीने का किराया वह अदा हुआ। (यह कहकर तसवीर बनाने लगता है। बुलाकीदास आश्चर्य से मार्तंड को देखता है।)

चूड़ामणि : (घूमकर) आपके छोटे लड़के के विवाह पर मैंने कवि-सम्मेलन करवा दिया था, तीसरे महीने का किराया वह अदा हुआ। (कहकर लिखने लगता है। बुलाकीदास आश्चर्य से चूड़ामणि को देखता है।)

मार्तंड : (घूमकर) जन्माष्टमी में आपके मंदिर की झाँकी मैंने सजवा दी थी, चौथे महीने का किराया वह अदा हुआ। (कहकर तसवीर बनाने लगता है। बुलाकीदास आश्चर्य से मार्तंड को देखता है, फिर कुछ चुप रहकर)।

बुलाकीदास : अजी वाह! इतने ज़रा-ज़रा-से काम के रुपए! वह तो आपने अपनेपन में कर दिया था।

मार्तंड : (तसवीर बनाता हुआ) हमने काम तो किया, आप तो बिना काम किए हुए ही रुपया माँगते हैं।

चूड़ामणि : (लिखता हुआ) और आप भी अपनेपन में किराया जाने दीजिए!

बुलाकीदास : आप लोग अजीब तरह के आदमी हैं। अच्छा यह चार महीने का किराया हुआ। अब दो महीने का किराया दीजिए और मकान खाली कीजिए।

चूड़ामणि : (घूमकर) संसार का एक महाकवि आपके इस चिड़ियाखाने-नुमा मकान में रहा – पाँचवे महीने का किराया वह अदा हुआ!

मार्तंड : (घूमकर) संसार का एक श्रेष्ठ चित्रकार आपके इस जानवरों के रहने काबिल मकान में रहा, छठे महीने का किराया वह अदा हुआ! (परमानंद का प्रवेश। उन्हें देखते ही चूड़ामणि उठ खड़ा होता है।)

चूड़ामणि : आइए परमानंद जी, पधारिए, आपका स्वागत है। अभी-अभी आप की कीर्ति – गाथा पर एक पुराण आरंभ किया है। (बैठकर पढ़ता है) झूठ, दगाबाज़ी, मक्कारी, दुनिया के जितने छल-छंद नही बचे हैं इनसे कोई; धन्य प्रकाशक परमानंद। इसलिए हम लिखने बैठे लंबा-चौड़ा एक पुराण ....

परमानंद : (हाथ जोड़ता है) चूड़ामणि जी, अब बस कीजिए। मैं आपके रुपए लाया हूँ।

चूड़ामणि : (घूमकर) अच्छा रुपए लाए हैं? (मुसकराता हुआ रजिस्टर की कविता काटता है) तो फिर यह पुराण लिखना बंद किए देता हूँ। (परमानंद जेब से कुछ नोट निकालकर देता है। चूड़ामणि बैठे-ही-बैठे नोट लेकर बिना गिने उन्हें अपनी जेब में रख लेता है।)

परमानंद : अच्छा, अब मेरी घड़ी?

चूड़ामणि : (आश्चर्य से परमानंद को देखता है) तो आप घड़ी वापस ले जाएँगे?

परमानंद : जी हाँ!

चूड़ामणि : बहुत अच्छा! (बाएँ हाथ से घड़ी निकालकर परमानंद को देता है। दाहिने हाथ से रजिस्टर पर लिखता है) यह लीजिए अपनी घड़ी और यह शुरू हुआ परमानंद पुराण! उनकी बीवी मना रही है हो जाए वह जल्दी राँड़!

परमानंद : (हाथ जोड़ते हुए) नहीं, नही, यह घड़ी मेरी ओर से आपको भेंट है! (चूड़ामणि घड़ी वापस लेता है। इसी समय लाला रामनाथ का प्रवेश। लाला रामनाथ के हाथ में एक चित्र है! मार्तंड उठ खड़ा होता है।)

मार्तंड : आइए, पधारिए लाला रामनाथ साहेब! कैसे कष्ट करना पड़ा?

रामनाथ : मार्तंड जी, आप अपनी तसवीर की जगह मेरे पिताजी का चित्र ले आए हैं! यह लीजिए और मेरे पिताजी का चित्र वापस कीजिए।

मार्तंड : अरे हॉ, बड़ी गलती हो गई, मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। (बगल से चित्र उठाकर रामनाथ को देता है) यह लीजिए अपने पिताजी का चित्र।

रामनाथ : (चित्र देखता है और फिर क्रोध में) यह आपने क्या किया? नाक गायब कर दी?

मार्तंड : लाला जी, नाक तो आपने अपने पिताजी की कटवा दी पचास रुपए के चित्र के दाम सात रुपए लगाकर! (मार्तंड सब लोगों की ओर घूमता है) आप लोग जानते हैं – ये हैं लाला रामनाथ! आपके पिता बड़े दानी थे, बड़े पुण्यात्मा थे, और आज,उनके सुपुत्र ने उनकी नाक कटवा दी! आपकी तारीफ़ ....

रामनाथ : (बात काटकर) अच्छा, अच्छा! यह तसवीर मैंने ले ली! यह लीजिए पचास रुपए और यह तसवीर ठीक कर दीजिए! (रामनाथ मार्तंड को नोट देता है। मार्तंड बिना गिने ही नोट अपनी जेब में रख लेता है, फिर रामनाथ के हाथ से चित्र लेकर तूली से नाक ठीक कर देता है)

मार्तंड : यह लीजिए उनकी नाक सही सलामत वापस आ गई। (रामनाथ चित्र लेकर जल्दी-जल्दी जाता है और पीछे-पीछे परमानंद जाता है।)

बुलाकीदास : अब आपके पास रुपए आ गए हैं। किराया अदा कर दीजिए।

चूड़ामणि : कह तो दिया कि किराया हम लोग दे चुके। अब जब चढ़ेगा तब ले लेना।

बुलाकीदास : किराया चढ़ने की नौबत ही न आएगी। आप लोग अभी यह मकान खाली कीजिए।

मार्तंड : बुलाकीदास, हम आपकी तसवीर बनाकर प्रदर्शनी में भेजे और आपकी उस तसवीर में आपकी नाक का होना या न होना हमारे इस मकान में रहने या इस मकान से जाने पर निर्भर है।

चूड़ामणि : ओर अगर हम इस मकान से गए तो परमानंद पुराण को हम बुलाकी पुराण बना देंगे! समझे!

बुलाकीदास : आप दोनों बड़े बदमाश हें – हम आप लोगों को समझ लेगे।

(तेज़ी से जाता हे। चूड़ामणि उठकर दरवाज़ा बंद करता है। फिर अपनी जगह बेठकर लिखने लगता हे। मार्तंड चित्र बनाने लगता है।)

पटाक्षेप

बोध-प्रश्न

1. मार्तंड ओर चूडामणि के व्यवसाय को बताने के लिए लेखक ने मंच-सज्जा में क्या संकेत दिए हैं?
2. मार्तंड लाला रामनाथ के घर पिटने से कैसे बच गया?
3. रुपए पाने में असमर्थ रहने पर भी दोनों कलाकार क्यों आश्वस्त थे कि रुपए देने से मना करने वाले उनके पास अवश्य आएँगे?
4. बिना रुपए दिए दोनों कलाकार किराया देने से मुक्ति केसे पा गए?
5. परमानंद पुराण क्या था? उसका क्या प्रभाव पडा?
6. 'आप दोनों बड़े बदमाश हैं' – कलाकारों के बारे मे बुलाकीदास के इस कथन के पक्ष या विपक्ष में तर्क दीजिए।
7. आप केसे कह सकते हैं कि दोनो कलाकरों में गंभीर परिस्थितियों को भी हास्यपूर्ण बना देने की अद्भुत क्षमता है?
8. यदि आप बुलाकीदास के स्थान पर होते तो स्थिति से केसे निपटते?